नारी तू नारायणी

साध्वीजी शीलवती श्री जी

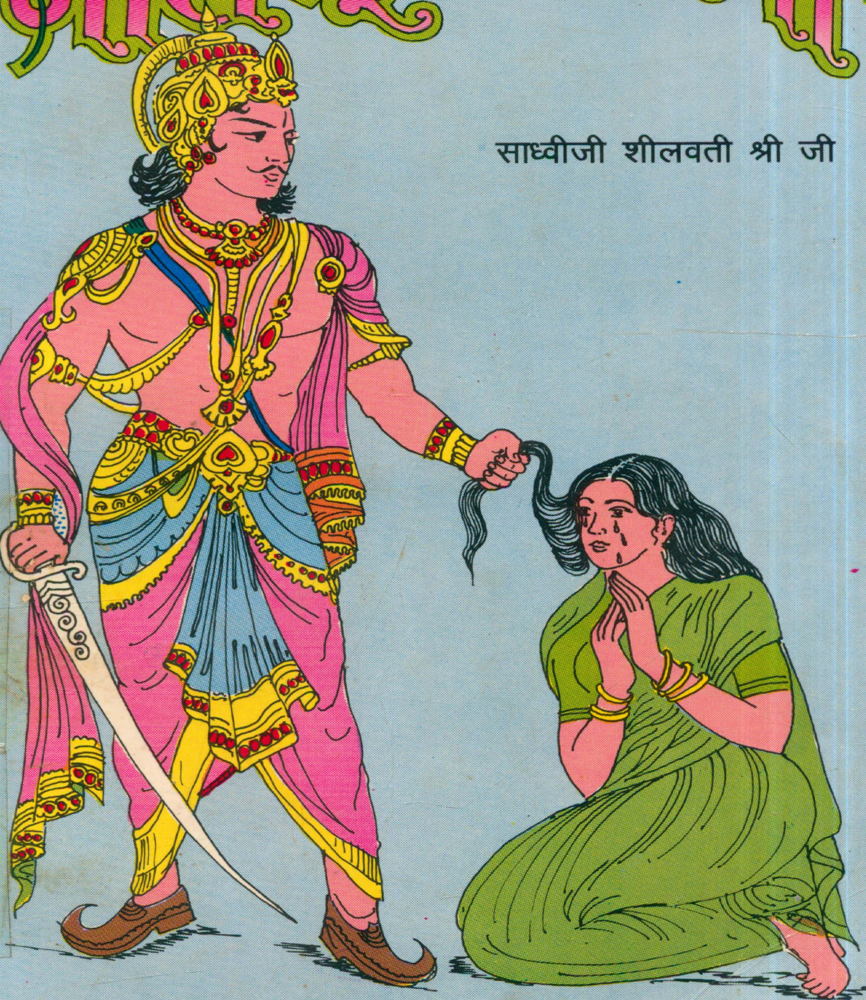

हिमाचल सद्गुरुभ्यो नमः   श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथाय नमः   अरिहंत सिद्धसूरिभ्यो नमः

एक अबला नारी की अमर कहानी

नारी तूं नारायणी

लेखिका

आनंद शिशु - शीलवती श्री

प्राप्तिस्थान :

मोहनलालजी संखलेचा (रामावाला)
2 अ 28 कमलानेहरु नगर,
पाली हाऊसिंग बोर्ड, पाली मारवाड़ (राज.)

शांतिलालजी मेहता
2 ब 74 कमलानेहरु नगर,
पाली हाऊसिंग बोर्ड, पाली मारवाड़ (राज.)

चंपकभाई सी. शाह
मु. + पो. : शिवगंज, बरलुट वाली बास,
वाया : जबाई बांध (राज.)

प्रेमलता सिंघवी
ह्वाईट हाऊस, 1, इण्डस्ट्रीयल एरिया,
बी एन पी एच, जोधपुर (राज.)

प्रकाशक :

सुमतिनाथ जैन मंडल
प्रेमभक्ति पाठशाला, कमला नेहरु नगर
हाऊसिंग बोर्ड, वृंदावन पार्क, पाली मारवाड़ (राज.)

मुद्रक :

लोढ़ा ऑफसेट लिमिटेड
ई-90, मरुधर औद्योगिक क्षेत्र, बासनी द्वितीय चरण,
जोधपुर (राज.) फोन : 41575, 40410

मंगलाचरण

अरिहंत की रहे छत्र छाया, हृदय में अरिहंत हो।
सिद्ध का तरक शरण, जिससे भवों का अन्त हो।
आचार्य पाठक साधु मुनि के, शरण में रहूँ मैं सदा।
परमेष्ठि का आक्षय रहो, मुझ को जगत में सर्वदा।।

अरिहंत का उपासक

अरिहंत का बन जाना, अर्थात संपूर्ण विश्व में अपनापन देखना और अपने में संपूर्ण विश्व का दर्शन करना। इतना विराट् स्वरुप निर्मित हो जाता है। जब, तब ही तन्मयता प्रगट हो सकती है। ज्ञानात्मक दृष्टि से अरिहंत सर्व जगत् में व्याप्त है। इसलिए कि अरिहंत के ज्ञान में जगत के सर्व भावों का त्रैकालिक दर्शन सन्निहित है। अतएव अरिहंत के उपासक को अपने आप को असीम बनाना चाहिए। स्वार्थमय वृति या प्रवृति से दुर रहकर परमार्थ दृष्टि से आत्मार्थ की प्रवृति में अपने आप को गतिशील करना चाहिए। जिससे कि जीवन की साधना एवं उपासना में सफलता प्राप्त की जा सके।

(अस्तु)

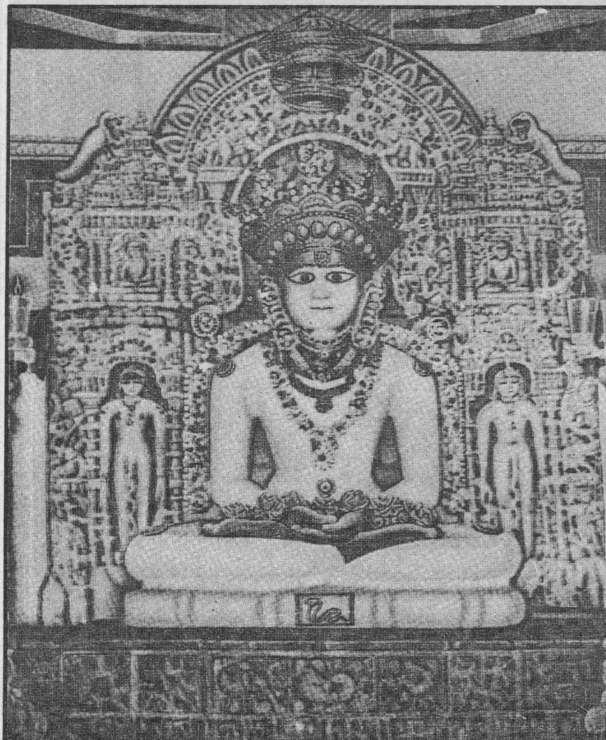

श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ

मेवाड़ केसरी श्री नाकोडातीर्थोद्धारक

श्रीमद् विजय हिमाचल सुरिश्वरजी महाराज

जन्म	– संवत् १६६४	–	केलवाडा (राज.)
दीक्षा	– संवत् १६८०	–	धांणेराव (राज. मारवाड़)
पंन्यासपद	– संवत् १६८५	–	धांणेराव (" ")
आंचार्यपद	– संवत् २०००	–	धांणेराव (" ")
स्वर्गवास	– संवत् २०४४	–	धांणेराव कीर्तिस्तंभ

प्रथम पुष्प

गुरुचरणों में अर्पण

ॐ ह्रीं अर्हं नमः

विषम इस कलिकाल में, जिनवाणी सुधा पिलाने वाले,
अनादि अंधकार मिटाकर, सद्ज्ञान दीप जलाने वाले,
विरल विभूति अद्भूत योगी, सदा निःसंग रहने वाले,
आत्मज्ञान उजागर करके, निजपद को पाने वाले,

ऐसे महापुरुष,
अध्यात्मयोगी, साधक संत परम उपकारी
नाकोडातीर्थोद्धारक मेवाड़ केसरी
पू. गुरुदेव श्री हिमाचल सूरिश्वरजी म.सा. के
दिव्य कर कमलों में यह

नारी तूं नारायणी

सादर
स
म
र्प
ण

साध्वी – शीलवती

आशीर्वाद दाता – नीति हर्ष महेन्द्र अरिहंत सिद्ध सूरिभ्यो नमः

वर्तमान गच्छाधिपती अरिहंत सिद्ध सूरिश्वरजी म. सा.

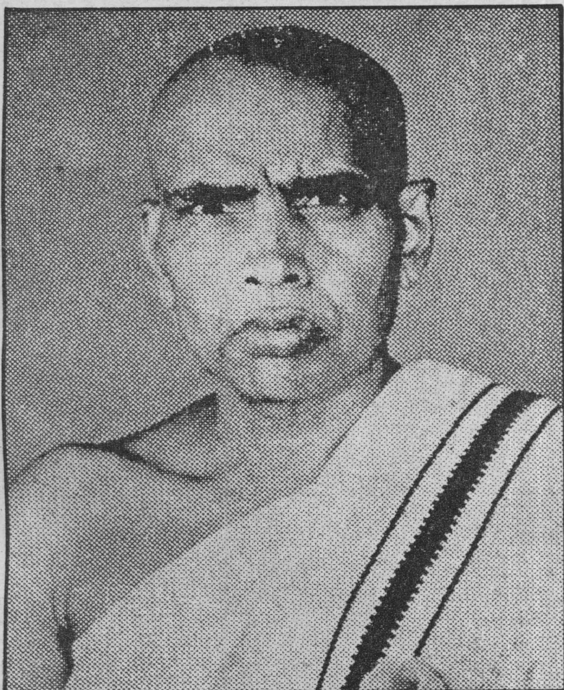

गुरुवर है बड़े उपकारी
सौभाग्य से मिली निश्रा तुम्हारी
गुरुवर बड़े त्यागी,
सभी को बनाये मोक्षगामी.

मधुर भाषिनी आर्यरत्ना विदुषी

साध्वीजी श्री आनंदश्री जी म. सा.

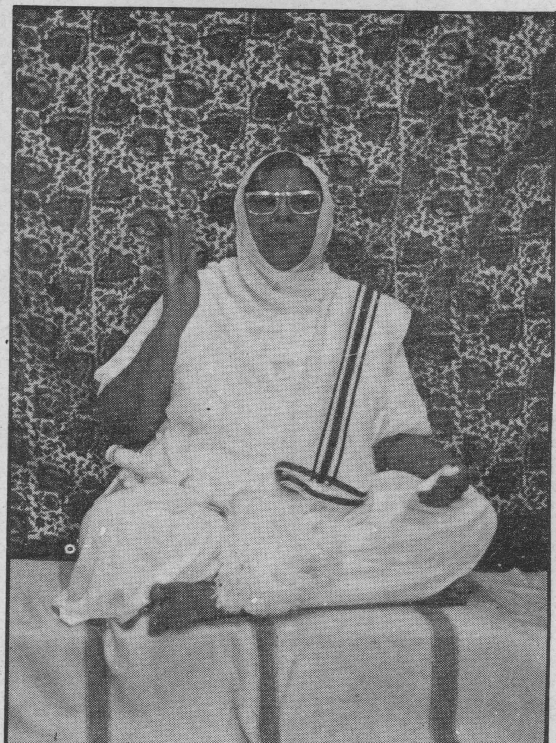

मझधार में भी किनारा मिल गया,
तूफान में भी सहारा मिल गया।
गजब है गुरुनाम का करिश्मा,
अन्धेरे में भी उजाला मिल गया।।

※ अंतरंग ※

परम हर्ष एवं सन्तोष का विषय है कि पाठकों के कर कमलों में **"नारी तूं नारायणी"** नामक पुस्तक पहुँच रही है। नारायणी का नाम सुनते ही व्यक्ति का हृदय आनन्द से झूम उठता है। क्योंकि साधना का चरम और परम लक्ष्य सुख और शान्ति की उपलब्धि है। सुख चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक, उसकी प्राप्ति के लिए साधक को पावन पुरुषार्थ की आवश्यकता रहती है, क्योंकि पुरुषार्थ से ही अपनी आत्मा की नैसर्गिक शक्तियों का विकास होता है।

प्रस्तुत पुस्तक **"नारी तूं नारायणी"** का सम्पादन विदुषी सहृदया साध्वीजी शीलवतीश्रीजी म.सा. ने बड़े मनोयोग से किया। इसमें म.सा. ने आत्मोपयोगी आध्यात्मिक विभिन्न ज्ञान वर्द्धक सामग्री का संकलन किया है। यों शीलवती श्रीजी म.सा. स्वभाव से गंभीर, मृदुभाषी और सेवाभावी हैं, मेरे मुख से जितनी प्रशंसा करुं इतनी कम है।

अपने कर्मो के सामने जंग करके धर्मराजा की अपूर्व शक्ति से उन्हें हटाकर मृगांकलेखा ने अपने जीवन को धन्य बनाया, जैन धर्म के प्राणस्वरुप चरित्र अंगीकार करके संसार की असारता को चरितार्थ किया और मुक्ति पद पाया।

जिन्दगी के एक कदम पर सुबह है, जिन्दगी के एक कदम पर शाम है।
इन्सान की जिन्दगी है क्या भला, दो कदम में जिन्दगी तमाम है।।

धन्य हो नारी मृगांकलेखा को !

- आर्या तत्वदर्शिता

धर्मप्रेमी श्रेष्ठीवर्य

संघवी – स्व. गुलाबचंदसा कोचर

धर्मानुरागिनी

श्रीमती राजकंवर सिंघवी

दानदाताओं की तरफ से भेंट

श्वेता कुमारी श्री मदनराजजी

जालोर (राज.)

साहित्यरत्न (प्रयाग)

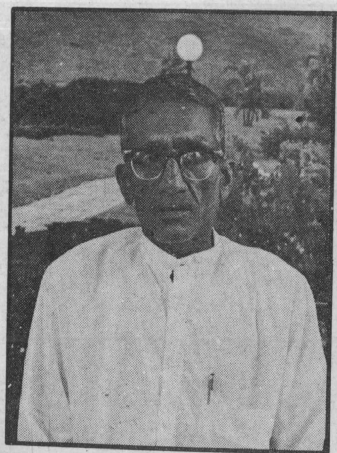

श्रेष्ठीवर्य – धर्मप्रेमी
मोहनलालजी संखलेचा (रामावाला)
1 अ 28, पाली हाऊसिंग बोर्ड

धर्मानुरागिनी

अखंड सौभाग्यवती
श्रीमती मोहनीबाई – धर्मपत्नी
मोहनलालजी संखलेचा (रामावाला)

धर्माराधक श्रेष्ठीवर्य

धर्मानुरागिनी

श्रीमान् शांतिलालजी मेहता
पाली हाऊसिंग बोर्ड
फर्म : मारवाड़ दाल मिल एण्ड कंपनी
फोन : 20755, 25158

अखंड सौभाग्यवती
श्रीमती पवनबेन
धर्मपत्नी शांतिलालजी मेहता
पाली हाऊसिंग बोर्ड

धर्मप्रेमी श्रेष्ठीवर्य — धर्मानुरागिनी

संघवी लीलाधरजी वड़ेर
प्लाट नं. 398 बी 3 रोड,
सरदारपुरा, जोधपुर

अखंड सौभाग्यवती
श्रीमती सं. कमला बहन
धर्मपत्नी लीलाधरजी वड़ेर

|| श्री ||

दो शब्द

आदरणीय पाठकों –

हमारे हा. बोर्ड पाली की धरम धरा पर मूर्ति पूजक जैन संघ की ओर सं मा. सा. श्री शीलवती श्री जी व तत्वदर्शीता श्रीजी का प्रथम चातुर्मास हमारे लिए एतिहासिक कहलायेगा। आपने अपनी अमृत व कोयल सी वाणी से धर्मप्रेमियों के मन को आराधना, तपस्या तथा अनुमोदन करने के लिए मोह दिया। जिससे पुस्तक में वर्णित भगवान का जन्मोत्सव नाटकीय ढंग से रचाकर दर्शकों के मन को बांध दिया। बड़ी तादाद में दर्शकों ने इस उत्सव को देख कर साध्वीजी मा. सा. की विद्वता की प्रशंसा की। तत्पश्चात पंच कल्याण का महोत्सव मनाया गया जिसमें चार बड़ी पूजाऐं तथा अंत में सिद्धचक्र पूजन विधिकारक "श्री चंपक" भाई के कर कमलों से कराया गया।

मा. साहब की उत्सुकता देखकर इस पुस्तक को लिखने के लिए छोटे मा. सा. ने बहुत ही प्रेरणा दी। तब मुझे भी इस बात की भनक लगी तो मैं ने भी मा. सा. की हिम्मत बढ़ाने का संकल्प लिया। जिस फलस्वरुप यह पुस्तिका आप के सामने पेश है।

"नारी से नारायणी" इस पुस्तिका में नायक व नायिका (सागरचंद व मृगांकलेखा) ने अपने धर्म को निभाने का पूरा प्रयत्न किया है, एक सती अपने शील को अखंड रखने के लिए आग के

अंगारों पर खेलती है पर पति के सिवाय अन्य किसी को हजार मुसीबत आने पर भी अपना शील नहीं बेचती। धन्य है वह धर्म परायण सती, जिसने महामंत्र "नमस्कार मंत्र" का जाप निरंतर किया वह अपने कर्मों का क्षय करके आने वाले भव के साथ–साथ अपने कुल को भी उबारा।

इस पुस्तिका में "कर्म को शर्म नहीं है" वाली कहावत सही बताई है। कर्म के सामने झुकना ही पड़ता है परन्तु धैर्यवान व्यक्ति कभी हताश नहीं होते व आने वाले संकट का सामना करते ही रहते हैं। इसी तरह नायक व नायिका ने अपने जीवन में किया।

इस पुस्तिका में धर्म, विनय, आदर्श, रीति, नीति व धैर्य को महत्व दिया गया है। अपने परिवार में पिता का पुत्र के प्रति माता का पुत्र व पुत्रवधु के प्रति, पुत्र का माता व पिता के प्रति क्या कर्तव्य है इसका ज्ञान जाहिर है।

पाठकों ! यदि आप इस पुस्तिका से अपना जीवन सफल बनाना चाहें तो सहज में ही कल्याण व अपनी महामंत्र का स्मरण सदा के लिए करें व अपनी बहन, बेटियों को (मृगांकलेखा) के जीवन का अनुसरण करने की शिक्षा देवें तो मा. साहब का लिखा यह पवित्र कुसुम आपके जीवन को गुलाब की तरह महक से मोह लेगा। धन्यवाद !

आपका समाजसेवी

मोहनलाल संकलेचा (रामावाला)

साहित्य रत्न (प्रयाग)

भूमिका

जगत की दृष्यमान विषमता का मुख्य कारण है जीव के अपने–२ कर्मों का फल, इसी का विस्तृत निदर्शन प्रस्तुत है – मृगांकलेखा। नायिका मृगांकलेखा किस प्रकार जीवन की विषम परिस्थितियों को अपना शुभाशुभ कर्म का फल मानकर समता पूर्वक सहन करती है, और किस प्रकार उक्त घटना से अपने संकल्प को दृढ़ बनाती है। इसका चित्रण बहुत ही मार्मिक ढंग से लेखिका ने वखूबी किया है। सागरचन्द्र का हृदय परिवर्तन भविष्य में संयम लेकर मोक्ष पद को प्राप्त हुए।

मानव जीवन का पथ बड़ा जटिल है। जीवन यात्रा के रास्ते टेढ़े–मेढ़े ऊबड़–खाबड़ और गर्त पूर्ण है। इस यात्रा में लाखों अवरोध पड़े है। अनेक प्रकार की बाधाएं समस्या सामने खड़ी है। अंधेरा सघन है। बार–२ व्यक्ति अंधेरे में भटकता है। ऐसे पथ पर कौन भटकता। ऐसे पथ में कौन सा प्रकाश है ! जो अंधकार से आच्छादित हमारे जीवन राह को जगमगा दे ! और हम ज्योतिर्मय हो जाएं।

ऐसे अंधकार में एक ही साधन है। और वह है। सम्यग्ज्ञान। सम्यग्ज्ञान के बिना उलझनों से भरे जीवन को सुलझाया नहीं जाता है। क्यों कि हम अपने कर्मों के नजारों को ज्ञान के अलावा समझ नहीं पाते हैं सम्यग्ज्ञान से ही कर्मवाद को जान सकते है।

नियति का एक झोंका हमें कहां से कहां पहुंचा देता है। इस कहानी में जिसकी एक हँसती खेलती जिंदगी में आवेश के

कारण आशियाना की महल उजड़ गया मानव मन अशुभ प्रवृति में इतना उलझ जाता है। वह अपने जीवन की सारी संस्कृति को खोकर शून्य मन होकर बैठ जाता है। कर्मराज उसे ऐसे थपेरे लगाता है कि वह अपना शान भान भूल जाता है। पारिवारिक शांति भी तहस नहस हो जाती है। इतना जल्दी परिवर्तन उसके जीवन में आ जाता है, कि वो अपने स्वभाव में क्रूर हो जाता है कि परिवारजनों से चाहे जैसा अमानवीय सलूक कर जाता है। तब नजरों के सामने एक ऐसा दृश्य खड़ा हो जाता है, कि एक नारी का हँसता खेलता आशियाना और ख्वाबों का महल मिट्टी में मिल जाता है। खुशियों की बहारों पर सदा के लिए पतझड़ बसेरा कर देता है। और जीवन अभिशाप बन जाता है। सुखद भविष्य की कल्पना वास्तविकता के धरातल से दूर हो जाता है।

भारतीय संस्कृति की धरोहर ही सुख शांति और खुशी है। मृगांकलेखा अपने जीवन की विषम परिस्थितियों में भी कैसी अडिगता तप त्याग समपर्णता की लौ को प्रज्वलित रखती है। और अपने पूर्वकृत कर्मों के उदय को इसी तरह झेलती रहती है। कि नये कर्मों का उपार्जन न हो। अपनी मासूम जिंदगी को वर्तमान में किस तरह संभालना सहनशीलता की वेदी पर हँसते हँसते रहना। इतने संघर्ष के बावजूद भी अपने सुहाग के साथ–२ उसी भारतीय परम्परा को निभाना, पहाड़ सी विशालता है अपने शील को सुरक्षित रखना दर–२ भटकते जंगलों में दर–२ ठोकरें खाना व्यभिचारियों के पल्ले पड़ना भूख प्यास को सहन करना आदि अनेक संघर्षों के बाद भी शील को अखंड रखा और आखरी तक नायिका अपने कर्त्तव्य और शील की मसाल लेकर जग को प्रकाशमान करती रही है।

अन्तर के दो शब्द

मानव का जीवन अंधकार की गहराईयों में डुबा हुआ है। अंधकार से प्रकाश में जाने के लिए हमारे अन्तरमन को धर्म आराधना में लगाना होगा, जिससे जीवन प्रकाशमय हो जाएगा। उसके लिए हमें "संतों" का सानिंध्य ही चाहिये। उनके सानिध्य से ही हमारी सुप्त चेतना जागृत हो सकती है।

पुण्य प्रबल होने पर ही हमें समय–समय पर संत–सतियों का सानिंध्य प्राप्त होता है। मुझे पूज्यनीय धर्म आराधिका सौम्य स्वभाव वाली "शीलवती श्रीजी" व इनकी शिष्या मधुर स्वभाव वाली तत्वदर्शिता श्रीजी का सानिंध्य जोधपुर चातुर्मास में मिला, इनके मधुर स्वभाव के कारण यहां पर अच्छी धर्म अराधना हुई। संयोग से अगला चातुर्मास पाली हाऊसिंग बोर्ड में हो गया, वहां पर हमारे बच्चों की धार्मिक पाठशाला चलती है, इसलिए वहां भी मेरा आपसे बराबर सम्पर्क रहा। वहां भी चातुर्मास में धर्म आराधना, तप, त्याग की झड़ी सी लग गई। शायद वहां पर यह पहला चातुर्मास ही था, बच्चों का शिविर लगवाया। उसका समापन भी बहुत सुन्दर व शिक्षाप्रद नाटकों से किया। उसका श्रेय हमारे तत्वदर्शिता श्रीजी को है।

शीलवती श्रीजी ने वहां पर "नारी तूं नारायणी" का लेखन शुरू किया। शायद आपकी यह प्रथम पुस्तिका होगी, आपने नारी का व्यक्तित्व इस पुस्तक में बहुत ही सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है।

नारी का जीवन में अतयधिक प्रभाव होता है। जावन के दो पहलू में एक नारी व एक पुरुष होता है। अगर एक पहलू उसमें खराब हो तो जीवन सुदृढ़ नहीं चल सकता। "नारी" पुरुष की शक्ति है, उसके व्यक्तित्व को नारी ही संवल दे सकती है। नारी का आधिपत्य सांसारिक व आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में महत्वपूर्ण रहा है। जब–जब पुरुष अपने पथ से या विवेक से विचलित हुए, नारी ने ही उन्हें राह दिखाई है। जिस प्रकार "महासती राजुल" ने अपने देवर "रहनेमी जी" को उस गुफा में जिस तरह धर्म देशना देकर उन्हें सत्य की राह दिखाई वे अनुसरणीय है। नारी को अपने कर्तव्य का पालन सुदृढ़ता से करते हुए अपने शील की रषा करनी चाहिए। साध्वी श्रीजी ने इस पुस्तक में "नारी से नारायणी" बनने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को जावन में नारी की शक्ति का ज्ञान कराया है। इससे जीवन में निर्मल ज्योति प्रज्वलित होगी।

– प्रेमलता सिंघवी

उज्जैन नगर के साहूकार की पुत्री

अंक पहला

पहला दृश्य

मृगांकलेखा – सखि ! पूजा की सामग्री

चित्रलेखा – जी ! सब तैयार है। आप चलिए मैं सामग्री लेकर साथ चलती हूँ।

मृगांकलेखा – सखि ! पत्रलेखा, कहाँ है ?

चित्रलेखा – वह तो आपसे पहले ही स्ननागृह से निकलकर जिनालय में चली गई, पुष्पों का करंडियाँ भी वही लेकर गई।

मृगांकलेखा – अच्छा ! (जिनमंदिर में प्रवेश करती हैं) निस्सिही, निस्सिही, नमो जिणाणं ! (प्रभु प्रतिमा के सामने खड़े होकर) जय हो ! (स्तुति करती है)

दर्शनाद्युरितध्वंसी, वंदनाद्वांछितप्रदः
पुजनात्पूरकः श्रीणां, जिनः साक्षात्सुरद्रुमः

(शार्दूल छंद)

"किं कर्पूरमयी सुचंदनमयी, पीयूष तेजोमयी।
"किं चुर्णीकृत चंद्रमंडलमयी, किं भद्र लक्ष्मीमयी।।
"किं वानंदमयी कृपारसमयी, किं साधु मुद्रामयी।
" त्यंतर्मे हृदिनाथ मूत्तिरमला, नो भावि किंकिंमयी।।

(स्तुती करके मुल गंभारे में प्रवेश करती हुई निस्सिही

निस्सिही निस्सिही करके अष्ट प्रकार की पूजा करके रंग मंडप में आकर भाव पूजा करके मृगांकलेखा ध्यान लगाकर खड़ी होती है। और "सागरचंद्र" मित्र सहित प्रवेश करता है।

सागरचन्द्र – नमो जिणाणं (अंग रक्ष से) जनार्दन श्रीफल ?

जनार्दन – जी हाँ ! लीजिए ! साथ में सुवर्णमुद्रा भी ! (धन मित्र से) लीजिए आप भी लीजिए ! (दोनों श्रीफल और सुवर्णमुद्रा लेकर प्रभु के सामने चढ़ाते हैं)

सागरचन्द्र – (हाथ जोड़कर स्तुति करता है, तीन प्रदक्षिणा देकर "सागरचन्द्र" उधर से जाने लगा। जिधर 'मृगांकलेखा' देव कन्या के समान रुपवाली प्रभु का ध्यान लगाकर खड़ी है। उसको किसी देवता की प्रतिमा समझकर सागरचन्द्र शिर झुकाकर प्रणाम करता है)।

धनमित्र – हँ हँ हँ हँ । आ हा हा हँसता है।

सागरचन्द्र – क्यों मित्र ! क्यों हँसते हो ?

धनमित्र – हा हा हा फिर हँसता है।

सागरचन्द्र – न जाने क्यों हँसते हो ! मित्र, क्या यह हँसने का स्थान है ? ध्यान रखो तुम जिनगृह (भगवान के मंदिर) में खड़े हो, क्यों आशातनाा का ख्याल नहीं ?

धनमित्र – बेशक भूल हुई। मुझे आशातना का ख्याल है। इस बात का मिथ्यादुष्कृत देता हूं। परन्तु यह कहिए कि आपने शिर झुकाकर किसके चरणों में नमस्कार किया है ?

सागरचन्द्र – क्यों सबही देवता अपने लिए नमस्कार करने योग्य है। इसमें क्या हुआ ?

धनमित्र – (स्वगत) ओ हो। देवता की प्रतिमा समझ गया (प्रगट) आप क्या समझ गए। यह किसी देवता की प्रतिमा नहीं। यह तो इसी नगर की धनसार सेठ की पुत्री "मृगांकलेखा" है।

सागरचन्द्र – (टक–टकी लगाकर देखता है) हूं अच्छा यह मृगांकलेखा है (शरमाता है)।

धनमित्र – क्यों है वही ! या किसी देवता की प्रतिमा।

सागरचन्द्र – नहीं तुम ठीक कहते हो।

धनमित्र – क्या ?

सागरचन्द्र – कोई कन्या ही हैं चलो चलें।

धनमित्र – चलिए, वह देखो उसकी दोनों सहेलियां भी पीछे बैठी है। (दोनों जाते हैं)।

सागरचन्द्र – (मार्ग में अपने आप) क्या ही मनोहर रुप है। कानों में कुण्डल तो ऐसे चमकते थे मानों सूर्य और चंद्रमा हो। मृगांकलेखा! अरेरे ! यह तुने क्या किया ? मेरा चित्त चुरा लिया, नहीं नहीं तुझे चोरी का कलंक देना पाप है। महापाप है। तू धर्मात्मा है। तूं तो प्रभु के ध्यान में मग्न थी, तेरा ध्यान अचल अटल था परन्तु मेरा ही मन मुझे तेरे अधीन कर चुका। क्या करुं ? किसे कहूं ? तूं ने मेरे हृदय में निवास कर लिया है। अब तेरे बिना मुझे धैर्य नहीं। मृगांकलेखा ! तेंरे बिना यह जीवन निरर्थक है ! बस यही कहना ठीक है।

कहीं ऐसा न हो लग जाये, दिल में आग पानी से,
बादल दे रास्ता घटायें मेहरबानी से,
ये यादों की बरसातें हमें सोने नहीं देती,
सुहानी चांदनी रातें.... हमें सोने नहीं देती।

आत्मा कैसी मोहान्ध हो जाती है। विषयों की वासना परिणाम कितनी भयंकर होती है।

धनमित्र – कहिए ! आप किस विचारों में चल रहें हैं ? देखिए आपका घर आ गया। अब मैं आज्ञा चाहता हूं।

सागरचन्द्र – (भावों को दबाकर) अच्छा ! जैसी इच्छा ! जय जिनेश्वर देव की।

धनमित्र – जय जिनेश्वर देव की (अपने–२ घर चले गए)

दूसरा दृश्य

(स्थान सागरचन्द्र की हवेली – सागरचन्द्र का शयनगृह)

सागरचन्द्र – जनार्दन ! तुम अब जाओ ! मैं कुछ आराम करुंगा। (स्वगत) ओह सागरचन्द्र तूं वृथा ही असत्य मत बोल, अब तुझे आराम कहाँ देख, जो पवन आराम के अशोक चंपादि पुष्पों से सुवासित शीतल एकदम हृदय को शांत करनेवाली बहा करती थी वह भी इस समय क्यों विपरीत आचरण करती है ? (आराम – बगीचे की तरफ के खिड़कियों के कपाट बन्द करता है) बंद करने पर भी शांति नहीं (फिर प्रगट होकर) जनार्दन क्यों तुम अभी भी यहीं खड़े हो, जाओ, जाओ, जाओ, जाते हो जाओ, अच्छा चले जाओ (फुब्बारे की ओर देखता है)।

जनार्दन – आज्ञा ! जाता हूं महाराज (स्वगत) मंदिरजी से बाहर आते ही आर्य की आकृति में विचित्र परिवर्तन नजर आता है। इनके मुख प्रर इतनी उदासीनता क्यों छा गई।

सागरचन्द्र – 'जनार्दन' क्या तुम चले गए ?

जनार्दन – (फिरकर) महाराज आज्ञा मैं जाता हूं।

सागरचन्द्र – देखो, आज यह आतशबाजी का अनार यहां किसने सिलगाया है ?

जनार्दन – महाराज, देखो यह अनार कहाँ है। आप क्या कह रहे हो, आपकी सेहत तो ठीक है ?

सागरचन्द्र – हां, हां, मेरी सेहत ठीक है। तुमनें कैसे बे ठीक समझ लिया ? देखो इधर आओ मेरे पास आओ। बताओ यह क्या छुट रहा है ? अनार ! अग्नि की बारिक बारिक चिनगारियं कितनी ऊँची गिर रही है। अनार हैं, अनार, समझे ?

जनार्दन – (स्वगत) हाय, हाय, यह आज मालिक को क्या हुआ (प्रगट) महाराज इधर तो पानी का फुब्बारा है। आप क्या बोल रहे हो मालिक, आपको कुछ हो तो नहीं गया है।

सागरचन्द्र – "जनार्दन" मुझे कुछ हुआ है अथवा नहीं। यह पूछने की जरूरत नहीं है। फुब्बारा है तो फुब्बारा ही सही। ये तो मैं भी जानता हूं फुब्बारा है। परन्तु आज ये मुझे सभी अनार के समान मालूम देते हैं। अच्छा ही हुआ जो तुम मनुष्य नहीं हुए। तुम तो कठोर दिल के व्यक्ति हो, तुम्हारे पास समझ कि शक्ति नहीं है। इसलिए तुम मनुष्य नहीं हो। बस अब तुम जाओ मुझे चुपचाप लेटने दो (शय्या पर मुँह लपेटकर सोता है) मृगांकलेखा ! मित्र ने मेरे साथ कुछ नहीं किया। सिर्फ तेरा नाम ही तो बताया था। मैं अपने आप में न रह सका मेरा मन मेरे कहने में नहीं है। अब मैं तेरे बिना जिंदा रह नहीं सकता। निर बिना मछली की जो हालत होती है, वही हालत मेरी है। तुझे क्या मालूम है, तुं तो बेखबरी है,

लेकिन तेरे सिवा किसी से शादी नहीं करूंगा, क्या तेरे लिए अवश्य ही मुझे मर्यादा छोड़नी पड़ेगी। और पिताजी को कहना पड़ेगा (नहीं नहीं मर्यादा तो नहीं छोडूंगा) तेरे पिताजी को ही विधाता सुबुद्धि दे, तूं ने मेरे मन मंदिर में निवास कर ही लिया है। इस हृदय में दूसरे के लिए स्थान ही नहीं है। बिल्कुल नहीं।

कहीं ऐसा न हो लग जाये, दिल में आग पानी से,
बादल दे रास्ता घटायें मेहरबानी से,
ये यादों की बरसातें हमें सोने नहीं देती,
सुहानी चांदनी रातें.... हमें सोने नहीं देती।

मुझे, मुझे...... तुझे अपनाना ही होगा, वरना मेरी मंजिल अधूरी रह जाएगी। बिना प्यार की जिंदगी तो मरघट सी होती है। दिल किसी अज्ञात आशंकाओं से तेजी से धड़कने लगा...सोच.......सोच कर हर पल भारी हो रहा था.......सपनों की......रंगीन दुनियां मेरे से दूर जा रही थी (चेटी प्रवेश करती है)

जनार्दन – (धीरे से) कहो तुम किसलिए आई हो ?

चेटी – आर्य पुत्र को बुलाने आई हूँ।

जनार्दन – आज आर्यपुत्र की प्रकृति......

चेटी – क्यों – क्यों ठीक हैं न ?

सागरचन्द्र – (बैठकर) जनार्दन ! अभी तुम यहाँ ही खड़े हो ? यह क्या कहती है ? (चेटी प्रवेश करती है)।

जनार्दन – महाराज ! मैं जाने लगा था परंतु इसके आने की आहट सुनकर रुक गया, यह आपको बुलाने आई है।

सागरचन्द्र – क्यों किसलिंए आई है ?

चेटी – महाराज ! मध्यान्ह होने आया है, अभी तक आप के कारण माताजी ने भोजन नहीं किया। वे आपकी ही राह देख रही है।

सागरचन्द्र – मध्यान्ह हो गया है ? तब तो सायंकाल भी हो जायेगा। रात्री आ जायेगी। उसी समय संपूर्णकला युक्त चन्द्र भी उदय होगी, तब सागर अपनी क्षुधा दूर करने के लिए उछलने लग जायेगा, शांति हो जायेगी, जाओ–२ अब मुझे भूख नहीं है।

चेटी – (एक ओर जनार्दन से) जनार्दन आर्य का बोलना सुनकर मेरा तो हृदय कांपता है। क्या कारण है कि आज आर्य, बिना सिर पैर की बातें करते हैं। आपको क्या हुआ है ?

जनार्दन –यह जान लेना तो मुझे भी कठिन हो रहा है।

चेटी – भला आज कहाँ–कहाँ गए थे ?

जनार्दन – श्री ऋषभदेव भगवान के मंदिरजी से दर्शन करके वापिस आ गए, और कहीं नहीं गए। परन्तु जाते समय जो आनंद था वह आते.........

चेटी – हाँ, हाँ ! फिर आते समय वह आनंद........

जनार्दन – नहीं रहा ! बिल्कुल नहीं। मार्ग में 'धनमित्र' के साथ आपने कुछ बात भी नहीं की। चुपचाप चलते थे मानों बड़े विचार में डूब रहे हों।

चेटी – धनमित्र ने भी नहीं पूछा ?

जनार्दन – नहीं ! कुछ नहीं।

चेटी – तब तो मालूम होता है कि धनमित्र ने ही कुछ कहा होगा।

जनार्दन – नहीं, नहीं यह कदापि नहीं हो सकता। मैं साथ में ही था।

चेटी – भला कोई मार्ग में मिला था।

जनार्दन – कोई नहीं।

चेटी – तब।

जनार्दन – मैं क्या जानूं।

चेटी – तुम न जानोंगे तो और कौन जानेगा ? आर्य की अवस्था देखकर मुझे बड़ी चिंता हो रही है। इनकी इस हालत को देखकर माताश्री को कितना दुःख होगा ? क्या तुम यह जान सकते हो ? जनार्दन।

"अहो ? आज ऐसी कहो क्यों उदासी ?"
"रही शोक छाया यहां यों प्रकाशी ?"
"न है आज आनंद या शांत तारे ?"
"कहो सत्य जल्दी हुआ आज क्या रे ?"

बड़ा ही आश्चर्य है कि तुम इनकी यह दशा होने का कारण नहीं जान सकते, देखो क्या हालत हो रही है।

भाता नहीं गान न खान पान। भूले हुए हैं आपना भी मान।

परन्तु जान पड़ता है कि यह वही अपस्मार रोग है।

जनार्दन – क्या ? अपरम्पार ! अपस्मार क्या ?

चेटी – अपरम्पार नहीं जानते ? न जानना ही अच्छा है। (स्वगत) यदि मैं होती तो बस (प्रगट) जनार्दन ! सुनों ! जब 'वसुन्धरा' की राजपुत्री 'सरस्वती' को 'महिपाल' युवराज 'कन्दर्प' किशोर नें देखा था।

जनार्दन – हाँ, हाँ तब ?

चेटी – युवराज 'कन्दर्प किशोर' की क्या हालत हुई थी ? है कुछ मालूम।

जनार्दन – उनकी हालत, वे तो पागल हो गये थे ?

चेटी – कब तक पागल रहे थे ? कैसा पागलपन था उनका ?

जनार्दन – हँ, वे तो 'सरस्वती' के रुप को देखकर पागल हो गये थे। उसके साथ शादी होते ही अच्छे हो गये, सब पागलपन काफूर हो गया ? उनके पिता ने उन्हें धारानगरी के राज्य सिंहासन पर बिठा दिया है। अब वे महाराज अपना राज्य शासन बड़ी अच्छी तरह से चला रहे हैं। इस समय उनके आनंद व सुख की सीमा नहीं है।

चेटी – जनार्दन ! बस वही 'कन्दर्प किशोर' वाली अवस्था आज अपने आर्य की हो रही है – "अनुभव ऐसे विरह का क्यों न करै बेहाल" अरे रे मुझे उपर आये बहुत देर हो गई ? माताश्री क्या कहेगी ? (फिरकर) देखो देखो वह देखो ! आर्य ने कुछ संबोधन पूर्वक करवट लेते हुए कैसी आह भर के सांस ली है। अरे रे यह संबोधन किसे था ? मैं न सुन सकी। अच्छा लो अब मैं जाती हूं और माताश्री से निवेदन करती हूं। देखो, वह पूर्व के द्वारवाली खसखस की चिक बिल्कुल सूख गई है। उसे तर कर दो। भला यह पवन आने के द्वार क्यों बंद कर दिये हैं।

जनार्दन – यह द्वार मैंने नहीं बंद किए। हां लो ? यह लो मैं तुमसे कहना ही भूल गया।

चेटी – क्या–क्या ?

जनार्दन – इस फुब्बारे को देखकर 'आर्य' मुझ से क्या बोले कि,

अरे यह आतिशबाजी के अनार यहां क्यों है ?

चेटी – (स्वगत) बस–बस मेरा अनुमान सत्य है। (जीने में किसी के आने की आहट सुनकर) जनार्दन देखो, कोई आता है (एक ओर होती है)।

जनार्दन – (देखकर) पधारिए–पधारिए (चेटी से) लो माताश्री स्वयं ही आ पधारे (चेटी हाथ जोड़ती है)।

पद्मावती – तूं तो ऊपर ही आके बैठी रही ?

चेटी – (विनयपूर्वक) क्षमा चाहती हूं।

पद्मावती – (सागरचन्द्र को शय्या पर लेटा हुआ देखकर) बेटा क्यों कैसी है तबीयत (सिरहाने बैठकर माथे पर हाथ फेरती है)।

सागरचन्द्र – माँ ? मुझे मत बुलाओ ? मेरी तबीयत को कुछ नहीं हुआ (करवट बदलता है)।

पद्मावती – बेटा ? तेरी यह दशा देखकर मेरा मन अधीर होता जा रहा है। सच बता तुझे क्या हुआ है ? (जनार्दन से) जनार्दन जाओ जल्दी से और सेठजी से कहो (जनार्दन सेठजी को साथ लेकर आता है) बेटा ? देख मैं क्या पूछती हूं, उसका उत्तर दे, तुझे क्या हो रहा है, ले इधर देख, तेरे पिताजी भी आए (आंखों में आंसू लाकर रोती हैं)।

सागरदत्त – (घबराकर) हैं ! यह क्या।

पद्मावती – कौन जाने कुछ भी उत्तर नहीं देता, इसकी यह हालत देखकर मेरा तो जी टूटता है।

सागरदत्त – (सागरचन्द्र के पास बैठकर) बेटा ! तुझे क्या दुःख हो

रहा है ? कहता क्यों नहीं ? देख तेरी माँ, रो रो कर आंखें दुःखा रही है। बात क्या है ? बता तो सही सागरदत्त (प्यार करता है)।

सागरचन्द्र – (धीरे से) क्या उत्तर दूं ? पिताजी ! कहता हूं कि, कृपया आप मुझे चुपचाप पड़ा रहने दीजिए ? बस अब कुछ नहीं (करवट बदलता है)।

सागरदत्त – क्या कुछ नहीं ?

सागरचन्द्र – मेरी तबीयत ठीक है।

सागरदत्त – तो चल, उठ भोजन कर, (उठाता है ?)

सागरचन्द्र – नहीं मैं भोजन नहीं करुंगा।

सागरदत्त – क्यों ?

पद्मावती – बेटा ? देख, यदि तू भोजन नहीं करेगा तो मैं भी नहीं करुँगी।

सागरदत्त – बेटा ? देख तेरी मां को कितना दुःख हो रहा है। तू सच बता दे कि तुझे क्या हो रहा है ? मैं अभी उसका उपाय करुं। तुझे किसीने कुछ कहा तो नहीं ? किसी ने तेरा अनादर तो नहीं किया ? क्या किसी ने तेरी आज्ञा भंग की है ? राज्य की तरफ से तेरा अपमान हुआ है ? हुआ क्या है ? बता तो सही।

सागरचन्द्र – पिताजी ? न मेरा किसी ने अनादर किया? न आज्ञा भंग की और न ही राज्य की तरफ से कुछ अपमान हुआ है। कृपया आप मुझे यूं ही पड़ा रहने दो। इसी में मुझे ठीक मालूम देता है।

सागरदत्त – (जनार्दन से) यह क्या बात है ?

जनार्दन – महाराज ! मैं नहीं जानता ! मुझे कुछ मालुम नहीं है। आर्य को क्या हुआ है।

सागरदत्त – क्या बात करते हो, हर घड़ी साथ रहने वाले, तुम ही न जानोंगे तो फिर कौन जानेगा ?

जनार्दन – विभो ! मैं शपथ पूर्वक कहता हूं कि, मुझे कुछ भी नहीं मालूम ! जिनालय से निकलते ही आपकी आकृति में एकदम परिवर्तन हो गया है। 'आर्य' के हृदयगत भावों को जान लेने के लिए मैंने बहुत कुछ प्रयत्न किये परन्तु........

सागरदत्त – परन्तु क्या ? कह डालो कि नहीं जान सके। जनार्दन? इतना कहने से काम नहीं चलेगा ? तुमको इसके हृदयगत दुःख का पता लगाना ही होगा। तुम जान सकते हो कि इसकी यह हालत देखकर मेरा मन् कितना दुःखी हो रहा है। क्या तुम इसके दुःख का पता नहीं लगा सकते हो ?

जनार्दन – इस बात का मुझे बड़ा दुःख हो रहा है।

सागरदत्त – क्या मुझसे भी अधिक............?

चेटी – इधर इधर (धनमित्र प्रवेश करता है)।

पद्मावती – आओ, आओ, अच्छा हुआ तुम आ गये। देखो तुम्हारे मित्र को, आज न जाने क्या हुआ है, जो न बोलता है, न कुछ हमारी बातों का उत्तर ही देता है। मध्यान्ह ढ़ल चुका है। परन्तु अभी तक न कुछ खाया न पिया। देखो चेहरा कैसा कुम्हला गया है। तुम इसे बुलाओ तो सही।

सागरदत्त – क्या तुम सबेरे साथ में नही थे।

धनमित्र – जी, हाँ, मैं साथ में ही था।

सागरदत्त – तब तो तुम्हें सब मालूम होगा ? इसकी यह अवस्था कैसे और क्यों हुई।

धनमित्र – अच्छा तो आपलोग थोड़ी देर के लिए किनारे हो जाइए ? जो कुछ बात है वह पूछकर मैं आपसे निवेदन करुंगा। आप चिंता मत कीजिए।

सागरदत्त – यदि यह न बताएगा तो ?

धनमित्र – क्यों नहीं बताएगा ये ?

सागरदत्त – हम नें बहुत ही जोर लगाया ?

धनमित्र – यथार्थ है। परंच ये मुझसे बताएगा, यदि न बताएगा तो आज मित्रता की परीक्षा हो जाएगी। आप जानते हो कि कितनी ऐसी बातें होती है, जो वे अपने माता–पिता से नहीं कही जाती है। मित्र से नहीं छुपाई जा सकती है।

पद्मावती – मुझे आशा है कि तू अवश्य ही इसके दिल की बात हमको बताएगा।

सागरदत्त – इसकी इच्छा पूर्ण करने में कुछ कसर न रखेंगे। हमें इसीका तो आधार है। यह सब इसी का तो है।

धनमित्र – आप इतने अधीर क्यों होते हैं ? अच्छा आप (हाथ से जाने का इशारा करता है, सभी बाहर जाते हैं)।

धनमित्र – क्यों मित्र ? यह आज क्या बात है ? (पास में बैठ कर) उठो, बैठे हो जाओ, और मैं जो कुछ पूछूं उसका सही–२ उत्तर दो ? उठो....

सागरचन्द्र – (उठकर बैठता है) कहो क्या कहते हो ? क्या पूछते हो ? पूंछो ?

धनमित्र – मैं कौन हूं ? आप मुझे क्या समझते हो ? देखो अलंकार मत छांटना, सीधा उत्तर देना।

सागरचन्द्र – भला तुम मुझे क्या समझते हो ? मैं कौन हूं ? पहले तुम ही इसका उत्तर दो, कि चन्द्रमा को देखकर सागर क्यों उछलता है ?

धनमित्र – मैं आपको अपना मित्र समझता हूं। आप सागरचन्द्र हैं। सागर की गति सागर जाने, चन्द्रमा को देखकर उछलता है, तो भले उछलता रहे, इससे धनमित्र को क्या ? अच्छा बस ? अब मैं जाता हूं (उठता है, सागरचन्द्र हाथ पकड़कर बैठाता है)।

सागरचन्द्र – मित्र? इतना रोष ? मैं इसके योग्य नहीं हूं ? तुमको मुझपर दया करनी चाहिए ? मैं तो तुम्हें वही समझता हूँ ? जो तुम मुझे.....

धनमित्र – तब आप सीधी तरह बात क्यों नहीं करते ? मुझे तो कहते हो कि मुझ पर दया करनी चाहिए ? परंतु आप तो अपने माता पिता के उपर कितनी दयाकर रहे हो ? है कुछ मालुम, जिन्होंने अभी तक आपके कारण भोजन भी नहीं किया ? उनको कितनी चिंता हो रही है ? बस...बस (फिर उठता है)।

सागरचन्द्र – देखो मित्र ? तुम जाओगे तो तुम्हें मेरी कसम है ? (हाथ पकड़कर) मेरा मन ठिकाने नहीं है ?

धनमित्र – कहाँ गया है ? जो ठिकाने नहीं है ? (रोष पूर्वक) बस जो बात है साफ–२ कह दो।

सागरचन्द्र – मित्र ! मैं अच्छी तरह जानता हूं, कि तुम शाम, दाम, दण्ड, भेद के अखाड़े में पटेबाजी खेलना अच्छी तरह जानते हो ?

इस समय मेरे साथ ऐसे पैंतरा मत बदलो ? मैंने आज तक तुमसे अंतर नहीं रखा। नहीं रखूंगा। अपनी शांत प्रकृति से मेरे दहकते हुए हृदय को शांत करने के बदले यह घी मत होमो। मैं सब कुछ कह डालूंगा, परन्तु न जाने कि आज क्या हुआ है, जो जरा भी मन को नहीं समझ सकता ?

"क्या करूँ ? कैसे करूँ ? अब तो रहा जाता नही।
"हा क्या कहूँ ? किससे कहूँ, कुछ भी कहा जाता नहीं"

खैर, लो सुनो (स्वगत) जो होना होगा सो होगा।

धनमित्र – ओ हो ? ऐसी क्या बात है ? शीघ्र कहो ना, बस मेरा दिल अब आपकी बात सुनकर ही शांत होगा। देर न कीजिए ? कहिए ? हाँ (स्वगत) हो न हो कहीं 'मृगांकलेखा' के ही सौन्दर्य ने इनके हृदय पटपर शासन जमाया हो, संभव है ? हो सकता है ? अच्छा अब आप ही मालूम हो जायेंगे, देखूं क्या निकलता है।

सागरचन्द्र – मित्र ? सागर में कितनी मर्यादा है ? कितनी गंभीरता है ? तथापि चन्द्रकला को देखकर बांसो उछलने लगती है ? बिचारे विचरते हुए पक्षियों के हृदय को छु जानेवाली भयंकर शब्द करती हुई, अपनी तरंगों से उछलता हुआ किनारे पर आकर ऐसी पछाड़ खाता है, कि वहां पर बैठे हुए पक्षियों का गण चौंककर एक स्थान छोड़कर दूसरे स्थान उड़ता है। क्या यही उसकी गंभीरता का नमूना है ? मित्र ! बड़ा आश्चर्य है। कि मदांध की तरह अपनी मनमानी उछलती हुई लहरों में विचारे छोटे छोटे जल जंतुओं को आकुल व्याकुल होते देखकर भी दया नहीं आता ? क्या उसकी मर्यादा है ? मित्र ! मत पूछो ? बस करो ? जाने दो धृष्ट सागर वृथा ही साहस करता है ? यह खारा है।

इसके हृदय की थाह नहीं है। कहाँ वह सोलह कलापूर्ण चन्द्र, स्वार्थ रहित जगतवासियों को आनंद देनेवाला, सच्चा देशभक्त दिवाकर महाराज की प्रखर किरणों के आताप से मुरझाई हुई कुमुदनियों को प्रफुल्लित करने के लिए साक्षात् अमृत, धन्य है। विमलकलाशाली मृगांक ? तुम्हारा शासन अविचल अटल रहे।

धनमित्र – आप आपने इस लंबे चौड़े अलंकारिक व्याख्यान को अपने सहाध्यायी साहित्य शिरोमणी विचक्षण के लिए ही रहने दीजिए ? और साफ–२ अपनी उदासी का कारण कह डालिए ? (स्वगत) बस पा लिया बात वही है ? जो मैं धारता हूँ (सागरचन्द्र का हाथ पकड़कर) इधर देखिए, इधर, उधर कुछ नही है ? हां कहिए झट क्या बात है ?

सागरचन्द्र – (स्वगत) देखों मेरे मन की बात जानकर भी अब यह मुझ से क्या कहलाना चाहता है ? क्या कह दूं ? कि मैं मृगांकलेखा पर आशक्त हुआ हूं ? ना, ना, ऐसा नहीं। तब क्या कहूँ ? ठीक है, ऐसा कहूँ ? (प्रगट) मित्र ! अब सब तुम जानकर मेरे मुख से कहलाना चाहते हो ? तो लो सुनो, जबसे.....

धनमित्र – हाँ, हाँ ! आगे कहिए – जब से – क्या जब से ?

सागरचन्द्र – (हथेलियां मसलता हुआ) जबसे मृगांकलेखा को देखा है.......

धनमित्र – बस बस समझा ? तब से उसकी प्राप्ति के लिए आपका चित्त छटपटा रहा है ? मुझे आशा है कि वह अवश्य ही आपको प्राप्त होगी, क्योंकि आप उसके योग्य है। और वह आपके? (अंदर परदे में)।

चेटी – (स्वगत) मेरा अनुमान ठीक ही निकला। मैं विधाता से

प्रार्थना करती हूँ कि वह तिलोत्तमा के रुपसे भी बढ़कर रुपवाली मृगांकलेखा का संबंध, हमारे आर्य के साथ शीघ्र कर दे। क्या यह बात मैं माताश्री से अभी जाकर निवेदन कर दूँ ? नहीं, नहीं ? अरे मन सबर कर, सबर कर ? मित्र ही सब प्रयत्न करेगा।

सागरचन्द्र – क्यों मित्र ? तो फिर ?

धनमित्र – फिर क्या ? पिताजी से कहकर शीघ्र ही उसका उपाय (एक ओर) अरे जनार्दन ?

जनार्दन – (अंदर से) जी महाराज ! आया (सामने आया) आज्ञा ?

धनमित्र – माताजी और पिताश्री कहाँ पर हैं ?

चेटी – जय हो ! पिताश्री पधारते हैं। (सागरदत्त पद्मावती प्रवेश करते हैं। सब खड़े होकर प्रणाम करते हैं। धनमित्र प्रार्थना करता है)।

सागरदत्त – (बैठकर धनमित्र से) क्यों बेटा ?

धनमित्र – (प्रणाम पूर्वक) आज्ञा !

सागरदत्त – क्या हुआ ?

धनमित्र – जो होना चाहिए।

सागरदत्त – क्या होना चाहिए ?

धनमित्र – (उधर का हाथ करके) सागरचन्द्र का पाणीग्रहण।

पद्मावती – (मुस्कराकर) किसके साथ ?

धनमित्र – धनसार सेठ की पुत्री मृगांकलेखा के साथ।

सागरदत्त, पद्मावती – बस यही बात थी ?

धनमित्र – तो और क्या (सब खुशी होते हैं)।

सागरदत्त – (सागरचन्द्र से) बेटा ? चलो उठो जाओ अपनी माता

के साथ। जाओ भोजन करो, यह कोई बड़ी बात नहीं है। निंश्चित रहो और उस बाला को निज हृदयकमल में सोनेवाली हंसी मान लो (सागरचन्द्र शरमाता है)।

धनमित्र – (सागरदत्त से) लीजिए। अब मैं आज्ञा चाहता हूँ।

सागरचन्द्र – नहीं, अभी नहीं।

धनमित्र – क्यों ? मैं फिर मिलूँगा, जाता हूँ। (सागरचन्द्र माता के साथ जाता है)

चेटी – महाराज ? इधर, इधर ? (भोजनगृह में ले जाती है)

जनार्दन – (सेठ सागरदत्त से) जय हो !

सागरदत्त – (जनार्दन से) कहो क्या है ?

जनार्दन – विभो ! आनंद विमलसूरि नामा आचार्य आपके वल्लभ विलास उद्यान के श्रीहर्ष भवन में पधारे हैं।

सागरदत्त – अहो भाग्य मेरा ! कहो यह शुभ समाचार कौन लाया?

जनार्दन – स्वामिन् ! आपके उद्यान का माली 'सुमन'।

सागरदत्त – अच्छा, उसे अंदर बुलाओ (जनार्दन सुमन को साथ लेकर प्रवेश करता है)

सुमन – जय हो महाराज की !

सागरदत्त – सुमन ! तुमको श्री गुरु महाराज के पधारने के शुभ समाचार लाने के उपहार मे मैं अपने हाथ के यह रत्न जड़ित कंकण देता हूँ। लो (उतारकर देता है, सुमन विनयपूर्वक ग्रहण करता है)।

सुमन – महाराज ! आज्ञा चाहता हूँ।

सागरदत्त – अच्छा तुम चलो मैं सपरिवार श्री गुरु महाराज के चरणों में उपस्थित होता हूँ (जनार्दन से) तुम तैयारी करो।

तीसरा दृश्य

(स्थान वल्लभ विलास उद्यान श्रीहर्ष भवन)

सागरदत्त – (उद्यान माली से) सुमन !

सुमन – (हाथ जोड़कर) पधारिए ! इधर, इधर ठहरे हैं ! गुरु महाराज।

सागरदत्त – (गुरुमहाराज के सामने जाकर) विभो ! आज मैं अपने समान भाग्यशाली जगत में और किसी को नहीं समझता। महापुण्य का उदय हो तो आप जैसे गुरु महाराज का सम्मान प्राप्त होता है। (चरणों को हाथ लगाकर वंदना करता है)।

आचार्य – धर्मलाभ !

सागरदत्त – (सामने योग्य आसन पर बैठकर) स्वामिन् (हाथ जोड़कर) सुख शाता है !

आचार्य – देवगुरु की कृपा से आनंद है। कहो सर्वज्ञ प्रणींत धर्मकृत्य करते हुए तुम तो आनंद में हो ?

सागरचन्द्र – (स्वगत) आहा ! धन्य हैं गुरु महाराज, आपको (धनमित्र के कान में) मित्र देखा संसार से विरक्त निष्कारण जगतबन्धु परोपकार परायण गुरुजी, धर्म को अभिमुख करके किस प्रकार पूछ रहे हैं ?

धनमित्र – इसी का नाम है, संयम, मनगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति, इन तीनों का स्वरुप क्या तुम नहीं जानते हो ? जो वाक्य आपके मुख से निकलेगा वह मर्यादापूर्वक ही निकलेगा, जिसमें चरित्र को जरा भी दोष न लगे। अच्छा सुनो पिताजी वापिस क्या उत्तर देते हैं।

सागरदत्त – (हाथ जोड़कर) महाराज जिस पर आपकी कृपा हो, उसे निरानंद कैसे ?

"पादरविन्द यदि रक्षक आपके हैं ? कैसे 'विभो' विपदा आ सकती वहाँ।"
"रक्षा भला गरुड़ जहाँ करता, कैसे सर्प डंक लगा सकता वहाँ।।"

विभो ! आपकी कृपा से आनंद है। नाथ मैं अच्छी तरह से जानता हूँ, कि जीव को संसार में जो सुख व दुःख प्राप्त होते हैं, वह अपने–२ किए हुए पुण्य और पाप के ही फल हैं। परन्तु हे नाथ! मेरा जीवन अभी तक संसार सुखों में गुलतान हो रहा है। मुझ से कुछ धर्म नहीं बन सका। मेरी इतनी आयु चली गई, न जाने काल कब आ जायेगा, ओर मेरी क्या गति होगी ? मुझे यही चिंता रहती है। अब आप तरण तारण गुरु महाराज से यही प्रार्थना है कि –

"कैसे तरुं मैं यह भयावह समुद्र, होगी अहो गति कौन मेरी।"
"जानूं न किंचि भवपर उपाय सम्यग!, संसार पार करुणा करके उतारो।"

आचार्य – महानुभाव ! तुम्हारी धर्म श्रवण करने की इच्छा का होना ही भव भीरुपना बता रही है। तुम यह तो अच्छी तरह से जानते हो कि, मनुष्य जन्म बड़ा ही दुर्लभ है ? इसको शास्त्रकार चिंतामणी की उपमा देते हैं। तो यह चिंतामणी रत्न पाकर भी अपना परभवन सुधारा तो जिस मनुष्य जन्म के लिए देवता भी इच्छा करते हैं, वह प्राप्त होना बड़ा मुश्किल है। तुमने पूर्व जन्म में कुछ सुकृत किया था उसके प्रताप से यहां यह पुत्रकला लक्ष्मी का सदुपयोग न करोगे तो पश्चाताप के सिवाय कुछ न हाथ आवेगा। भद्र ! जिस प्रकार बादलों में बिजली चमक कर लुप्त हो जाती है। उसी के समान यह लक्ष्मी भी नष्ट हो जानेवाली है।

जिस प्रकार मृगतृष्णा में जल नहीं है। महानुभाव ! अधिक क्या कहें, यद्यपि चंद्रमा क्षीण हाकर वृद्धि को प्राप्त होता है। और दिन रात भी आते हैं, और चले जाते हैं। परंतु नदी के जल के समान गया हुआ यौवन फिर प्राप्त नहीं होता। इस दुःखदायक संसार में ऐसा कोई भी जीव नही है, जो जगतभर में फिरने वाले काल से बचा है।

भद्र ! मनुष्य जन्म सार्थक करने के छः कृत्य हैं। वह मैं तुमको सुनाता हूँ, ध्यान देकर सुनो – भगवत वीतराग देव का पूजन, पांच आश्रव के त्यागी गुरूओं की उपासना, यावत् जगत के सत्व–प्रणी मात्र पर अनुकंपा–दया, सुपात्र में दान देना; गुणागुरागी होना, और आगम सर्वज्ञ प्रणीत जो शास्त्र उनके सुनने में रुचिवाला होना। महानुभाव ! प्रथम जो वीतराग प्रभु परमात्मा का पूजन बतलाया है। वह दो प्रकार से होता है। द्रव्य से और भाव से, साधु द्रव्य के त्यागी होने के कारण वह भाव पूजन करते हैं। और गृहस्थी द्रव्य और भाव पूजा दोनों के अधिकारी हैं। हे भद्र ! जब जिनदेव के दर्शन के लिए जाने का मन में विचार करें तो उसको एक उपवास का फल मिलता है। यदि उठे तो दो उपवास का, यदि चलने का उद्यम करे तो तीन उपवास का, चल पड़े तो चार उपवास का, कुछ दूर गए तो पांच उपवास का, और अर्ध मार्ग में पहुंचने पर पंद्रह उपवास का फल होता है। और मंदिर के पास पहुंचने पर एक मासक्षमण, यानी तीस उपवास का फल होता है। जिन भगवान में संप्राप्त हुए को छः महीने की तपस्या का फल, जिन मंदिर के मुल दरवाजे पर स्थित हुए को एक वर्ष का फल, भगवान की प्रदक्षिणा देने से सौ वर्ष के तप का फल, पूजा करने

से हज़ार वर्ष के तप का फल, और स्तुति भाव पूजा करने से अनंत गुणाफल होता है। कहाँ तक कहे भगवान की सेवा पूजा भक्ति से यावत् मोक्ष पद को यह जीव प्राप्त कर लेता है।

सागरदत्त – (हाथ जोड़कर) महाराज ! आपने मुझ पर बड़ा ही अनुग्रह किया ! जो मुझे मोक्ष प्राप्ति का उपाय बताया। विभो ! मेरे मन में ऐसी भावना आई है कि, मैं अपने हाथ से पैदा हुई लक्ष्मी से एक देवाधिदेव वीतराग, प्रभु का मंदिर बनवाऊँ, और उसकी प्रतिष्ठा बड़े आडम्बर के साथ करवाऊँ।

आचार्य – यह गृहस्थ धर्म का मुख्य कर्तव्य है। जिन प्रसाद बनाने वालों की गति शास्त्राकार बारवां देवलोक बतलाते हैं। (सागरचन्द्र और धनमित्र को सामने देखकर) ये तुम्हारे पुत्र हैं ?

सागरदत्त – जी महाराज ! यह अनुचर (सागरचन्द्र को दिखाकर) मेरा पुत्र है और यह इसका मित्र है।

आचार्य – क्यों भद्र ! तुम क्या विचार कर रहे हो ?

सागरचन्द्र, धनमित्र – भगवन् ! हम दोनों आपके सन्मुख यह नियम अंगीकार करते हैं, कि यावज्जीव पर्यंत पर स्त्री गमन न करेंगे, वेश्या गमन न करेंगे, झूठ नहीं बोलेंगे, चोरी न करेंगे, शिकार नहीं खेलेंगे और अभक्ष्य अपेय वस्तु को अंगीकार नहीं करेंगे, और जब तक भगवान के दर्शन न करेंगे तब तक हम मुख में अन्नजल नहीं डालेंगे।

आचार्य – भद्र ! तुमने बहुत ही योग्य सोचा है। मनुष्य जन्म पाने का यही सार है। और लोग भी यथायोग्य व्रत नियम लेते हैं। (सागरदत्त आचार्यश्री को वंदन करके एक ओर)।

सागरदत्त – (सागरचन्द्र से) वत्स तुम पहले घर जाओ, और २५ लाख रु. ज़िनेश्वरदेव भगवान् के प्रासाद (मंदिर) बनवाने के निमित निकालकर भंडारीजी को दो, तदन्तर मैं घर में प्रवेश करुंगा। और उनसे ताकीद करना कि इस कार्य में विलंब न हो, शीर्घ ही शुभ मुर्हूत दिखाकर जिनालय का कार्य प्रारंभ कर दें।

सागरचन्द्र – (विनयपूर्वक) पिताश्री आपकी आज्ञानुसार मैं अभी जाकर भण्डारी से कहता हूँ।

(सागरचन्द्र जाता है, धीरे–धीरे परदा गिरता है)

चौथा दृश्य

(स्थान सागरदत्त का महल, भोजन गृह)

सागरदत्त – जनार्दन !

जनार्दन – महाराज आज्ञा।

सागरदत्त – देखो भंडारीजी कहाँ हैं ? पूछो इनसे कि अब क्या देर है ?

जनार्दन – जो हुक्म ! (जाता है और भण्डारीजी को साथ लेकर प्रवेश करता है)

भण्डारी – (सागरदत्त को प्रणाम करके) आज्ञा ?

सागरदत्त – (कान में) देखो सब साधार्मिक वर्ग आ गया है। अब तुम्हारी तरफ से क्या देर है ?

भंडारी – महाराज ! कुछ देर नहीं है। सब तैयार है। मैं आपके पास निवेदन करने ही आ रहा था।

सागरदत्त – देखो ध्यान रखना, यह साधर्मीक वत्सल हैं। किसी

प्रकार की त्रुटी न होने पावे, पूरा–२ ख्याल रखें।
भंडारी – आप निश्चित रहना, सब अच्छा ही होगा।
सागरदत्त – मुझे विश्वास है।
भंडारी – मैंने प्रधानजी से कहकर बड़े चतुर और विवेकी सौ सव्वासौ रसोइए मंगवा लिए है। आप देखते जाइए। कि मैंने केसा प्रबंध किया है।
सागरदत्त – तब !
भंडारी – बस आपकी आज्ञा चाहिए। मेरी तरफ से कुछ देर नहीं है। परंतु आप से यह जानना चाहता हूँ कि क्या स्त्री और पुरुष की पंगत एक स्थान में साथ ही बिठाई जावेगी ?
सागरदत्त – नहीं, नहीं ! स्त्रियों के बैठने के लिए सब अलग व्यवस्था हो चुकी है। अब मैं भाइयों की पंगत आठ पंक्तियों में विभक्त करके बैठाए देता हूँ।
भंडारी – (लोगों के सामने देखकर) जी बहुत अच्छा। (फिर देखता है)
सागरदत्त – क्या देखते हो! अनुमान पांच हजार आदमी है।
भंडारी – यदि दस हजार हो तो क्या परवाह है। (सागरदत्त स्वयं खड़ा होकर बड़ी नम्रता के साथ सबको योग्यता के अनुसार बैठाता है। सबके आगे थाल परोसकर रखता है। सबलोग जीमते हैं। परोसने वाले तरह तरह के पकवान आदि पदार्थ लेकर बीच में आवाज देते हैं। सागरदत्त खड़े आनंद से देख रहा है).
एक – सेठजी साहब ! (हाथ से दिखाकर) लड्डू–मोती चूर के लड्डू। लड्डू चाहिए–लड्डू चाहिए, वाह–२, लड्डू–मोतीचूर के

लड्डू ! लड्डू !

दूसरा – चटनी ! चटपटी चटनी ! अमचूर की चटनी। अनारदाने की चटनी। क्यों चटनी। सेठजी चटनी। लालाजी चटनी।

तीसरा – (दौड़ता हूआ) कचौड़ी ! कचौड़ी – गरमा गरम कचौड़ी – बाबूजी कचौड़ी।

एक सेठ – अरे भाई – लड्डू इधर लाओ।

लड्डूवाला – जी हाँ ! लीजिए सेठजी (हाथ से उठाकर लड्डू डालता है) और आवाज देता है लड्डू लो लड्डू।

एक व्यक्ति – अरे ओ मोहन ! सुनता नहीं है। देख लालजी पीछे चटनी मांग रहे हैं।

मोहन – लाया साहेब ! (देकर) चटनी.......चाहिए चटनी–२।

चौथा – अमृती राय साहेब अमृती – मीठी मीठी अमृती – राय साहेब अमृती।

पाचवां – पूड़ी कचौड़ी – क्यों साहेब पूड़ी रखूं कचौड़ी रखूं क्या रखूं, गरमा गरम है,. लीजिए।

छठा – प...पानी – पानी साहेब – जल ठंडा है ठंडा।

एक व्यक्ति – अरे भाई । इधर ला चटनी। ओ चटनी वाले ! ले वो तो गया, अरे भाई लड्डू।

लड्डूवाला – (एकदम चार लड्डू उठाकर) लीजिए साहेब !

लाला – हूं हूं, नहीं नहीं, चार नहीं २ दो लड्डू, रख दो झूठा छोड़ने में पाप है। (पास में एक दूसरा) अच्छा तो दो लड्डू इधर रख दो।

लड्डूवाला – लीजिए (और रखता है)

भंडारी – अरे रामा ! रामा जी हां ।

भंडारी – क्या जी हां ! देख उस तरफ किसी चीज की मांग हो रही है। एक–२ चीज के परोसने वाले तुम आठ–आठ दस–दस हो, तो भी तुम्हारा ख्याल नहीं। देख वे अमृती मांग रहे हैं।

रामा – (जंल्दी जाकर) लीजिए साहेब ! (अमृती देता है)

एक सेठ – अरे भई पानी चाहिए !

रामा – गणेशा, ओ गणेशा ! इधर ला, इधर पानी, वहां खड़ा क्या देख रहा है ?

गणेशा – (दौड़कर) पानी साहेब पानी ! और पानी किसे चाहिए, पानी लीजिए, पानी।

(सब लोग साधर्मीवत्सल प्रीतिभोजन जीमकर बराबर के सजाए हुए भवन में आकर बैठते हैं। सागरदत्त सबका पान बीड़ा वगेरह से सत्कार करता है। 'धनसार' सेठ को देखकर ज्योतिर्विद वसुरत्न भट्टाचार्य 'सागरदत्त' सेठ को किये संकेत से कुछ कहने के लिए नीचे ऊँचे होते हैं)

सागरदत्त – (इशारा करके) क्या है ? पंडितजी ! कह डालो न जो कुछ कहना हो।

ज्योतिर्विद – (धनसार के तरफ इसारा करके) सेठजी क्या कहना है ? यदि आज आपके पुत्र रत्न 'सागरचन्द्र' का संबंध हमारे इन सेठजी की पुत्री 'मृगांकलेखा' के साथ हो जाए तो ऐसा सर्वोत्तम योग है, कि न तो भूतो न भविष्यति।

सागरदत्त – हां ! ऐसा है। अच्छा तो यदि यह बात इन्हें मंजूर है तो मैं तैयार हूँ।

ज्यातिर्विद – भला ये क्यों न मानेंगे। इनको अपनी पुत्री के लिए 'सागरचन्द्र' जैसा पति मिलना मुश्किल है। घर और वर दोनों ही योग्य है। यह संबंध संवर्ण में सुगंध के समान है।

पुरोहितजी – सेठजी ! ज्योतिर्विद ने बात बहुत ही अच्छी कही है।

धनसार – (सागरचन्द्र को देखकर) बात तो ठीक है। मेरी पुत्री के लिए यह वर योग्य ही है। जैसा रुप है वैसे ही गुण। और राज दरबार में भी अग्रगण्य माननीय हैं। यह अवसर हाथ से खोना ठीक नहीं है। इसका पिता भी इसका संबंध चाहता है, तो बस ठीक है। (प्रगट) पुरोहितजी आपका कहना ठीक है। यदि सेठजी की यही इच्छा है तो कह दीजिए कि मेरी पुत्री 'सागरचन्द्र' के लिए हो चुकी।

पुरोहितजी – (सागरदत्त से) कहिए साहेब मंजूर है ?

सागरदत्त – बड़ी खुशी से।

धनसार – (ज्योतिर्विद से) अच्छा तो पंडितजी ! आप कोई मुहूर्त देखिए। परन्तु जहां तक हो नजदीक का दिन निकले तो अच्छा। (ज्योतिर्विद बगल से अपनी पोटली निकाल कर खोलता है। और पंचांग देखकर लग्न का दिन निश्चय करता है। सागरचन्द्र मन ही मन खुश होता है)।

पुरोहितजी – कहिए पंडितजी ! कोन सा दिन निकाला ?

ज्योतिर्विद – आज से पांचवें दिन यानि सप्तमी बुधवार, हस्त नक्षत्र, धन लग्न में दोनों का पाणीग्रहण बहुत ही अच्छा है।

सागरदत्त – बहुत अच्छा ! (ज्योतिर्विद को एक दुशाला और पच्चीस (२५) असरफी देता है। और भी सब लोगों को यथायोग्य

शिरोप्राव देकर विदा करता है। दोनों घर में शादी की तैयारी होती है। वर–कन्या अपने–२ घर में लगन्नी संबंधी क्रिया में प्रवेश करते हैं। सब जाते हैं। धनमित्र प्रवेश करता है। सागरचन्द्र – धनमित्र को सहर्ष मिलता है)।

धनमित्र – कहिए साहेब ! हो गया मन का मनोरथ पूर्ण। या अभी कुछ कसर है ?

सागरचन्द्र – (हँसकर) मन का मनोरथ पूरा तो हो गया परन्तु...

धनमित्र – हां हां कहिए ! कह डालिए – परंतु क्या ? अब भी कुछ कसर रही है ? सब कुछ तो निश्चय हो गया है। हाथों में कंगन भी बंध चुका है। फिर भी अभी आप की इच्छा कुछ बाकी रही है। जो भी हो सो मैं तो अब आपकी एक भी सुनने वाला नहीं हूँ। (सागरचन्द्र हाथ पकड़कर) सिर्फ दोस्त एक ही बात.....

सागरचन्द्र – मित्र ! कुछ कसर नहीं है। कुछ बाकी नहीं है। मेरा 'परंतु' कहने का कारण सिर्फ इतना ही है, कि उस वक्त मंदिरजी में ध्यानावस्थित खड़ी हुई मृगांकलेखा को भली प्रकार नहीं देख सका। अच्छी तरह नेत्रों की प्यास नहीं बुझा सका। मेरे नेत्र उस कमलाक्षी को देखने के लिए पानी के बिना मछली की तरह हैं। मेरा मन तड़फ रहा है। मित्र ! चाहे कुछ हो तुम मुझ पर कृपा करो। जिससे मैं एक बार उसे देख सकूं।

धनमित्र – वाह, वाह, आर्य ! अब आप इतने अधैर्य क्यों होते हो। मात्र आज से तीन ही दिन तो बाकी हैं उसके घर जाकर देखने को उत्सुक हो, वह तो स्वयं आपके सामने हाथ जोड़कर आ उपस्थित होगी। जरा धीरज रखिए। वह कंचन के थाल में

सर्वोत्तम पदार्थ, विधाता की चतुराई का नमूना क्या अब कोई आपके सामने से खींचकर खा सकता है। ठहरिए, सबर कीजिए। गरम–२ न खाइए। कहीं हाथ जलेगा। बड़े आश्चर्य की बात है। कि आज मुझे जगत को अपने तेज से उजाला करने वाले दिवाकर भगवान को दीवा दिखाना पड़ता है।

सागरचन्द्र – मित्र ! मैं सब समझता हूँ। परन्तु क्या करुं ? मेरा मन उसको देखने के लिए बड़ा ही अधीर हो रहा है।

धनमित्र – आप पाट माइएं बैठ चुके हो, लग्न क्रिया में आपका प्रवेश हो चुका है। पीठी भी चढ़ चुकी है। तो अब रात्री में वहां क्यों कर जा सकते हो ?

सागरचन्द्र – मैं यह कुछ भी नहीं मानूँगा। बस तुम किसी भी तरह एक बार उसका दर्शन कराओ। यह काम तुम्हारे लिए कोई दुर्लभ नहीं है। क्योंकि तुमहारे पास सिद्ध पुरुष का दिया हुआ कृष्णपट है। जिसके प्रताप से हम दोनों ही आज की चांदनी रात में मृगांकलेखा के भवन में जा सकते हैं। उसे देख सकते हैं। बस मित्र ! देखो यह कार्य तुमको किये ही छुटकारा है। अब बहुत न कहलाओ।

धनमित्र – (सागरचन्द्र के इस अत्याग्रह देखकर) अच्छा तो तैयार रहना। आज रात्री के प्रथम प्रहर में ले चलूंगा।

पांचवा दृश्य

(स्थान – धनसार सेठ की हवेली, मृगांकलेखा का भवन, 'मृगांकलेखा' अपनी सहेलियों के साथ बैठी बातें कर रही है। "सागरचन्द्र' धनमित्र के साथ सिद्ध पुरुष के वस्त्रपट पर

बैठकर आते हैं और दोनों एक कोने में खड़े–२ मृगांकलेखा को देखते हैं और उसकी सहेलियों की बातें सुनते हैं)

चित्रलेखा – (मृगांकलेखा से) बस–बस अब अपने इस पुस्तक को अकेली ही एकांत में बैठकर पढ़ना और अपने आपको सुनाना। हमें इस संसार सागर की विचित्रलीला सुनाकर वैरागिनी बनाने का प्रयत्न मत करो। आज आपकी वाणी का हम पर कुछ असर नहीं होती। न जाने क्या कारण है। कहो तो भला आज आपका मन कहाँ पर है ? न जाने किस स्वपनों की दुनियां में बह रही हैं।

पत्रलेखा – इनका मन कहाँ गया है। क्या तूं नहीं जानती ?

चित्रलेखा – यदि तुझे मालूम हो तो बता दे ना तूं ही कि इसंका मन कहाँ खोया हुआ है। हं.........

पत्रलेखा – अच्छा ! तो ले सुन ! इसका मन उसी में गया है। जिसके थाह नहीं, जो हजारों लाखों नारियों (नदियों) का पवित्र अधरामृत (मीठा पानी) को पीता हुआ भी अपनी खारास नहीं छोड़ता है। उसी लूण जैसे स्वभाव वाले सागर में इसका मन गया है। और कहाँ जाना था।

चित्रलेखा – अच्छा ! अच्छा ! तभी इस शास्त्र के सुनने में रस नही आता। रोज कैसी रसभरी कथा सुनाती थी। जिन्हें सुन चित्त प्रसन्न हो जाता था। आज जरा भी रस नहीं आया।

मृगांकलेखा – (मन ही मन मुस्कराकर शरमाती हुई, चित्रलेखा से) शास्त्राकार सच कहते हैं कि बिना अधिकारी के उपदेश देना, कच्चे घड़े में पानी डालना है। बस, बस ! समझ लिया। यह तो पहले ही जानती थी कि तुम तत्ववाद को क्या समझो, तुम्हें केवल कथा, कहानियाँ ही प्रिय है।

पत्रलेखा – (चित्रलेखा से) देखा ! मन में कुछ और है आप कुछ और कह रही हैं। (मृगांकलेखा से) देवी आपका यह क्रिया विलास बड़ा ही मनोहर है। बेशक हम इसके अधिकारी नहीं है। रहने दीजिए। आप आर्य 'सागरचन्द्र' के लिए। वे ही सुनेंगे। क्योंकि वे इसके अधिकारी हैं। यह पुस्तक उन्हें बहुत ही प्रिय है। वे सुनेंगे। इतना ही नहीं परन्तु वे स्वयं पढ़ेंगे इसे (मृगांकलेखा लज्जाती है)।

चित्रलेखा – (पत्रलेखा से) सखि ! इस बात के लिए तो हमें विधाता को धन्यवाद देना चाहिए, कि जो हमारी प्रिय सखि को सागरचन्द्र जैसा वर मिला (मृगांकलेखा के हृदय पर हाथ रखकर) क्या मैं ठीक कहती हूं, न !

"सुधा सवय अनुरागवान् कलावान् अनुरुप,
चतुर धनी पति पुण्य से, मिले सुधारस कुप।।"

मृगांकलेखा – हूँ (शरमाकर मुस्कराती है)।

पत्रलेखा – सखि चित्रलेखे – सच ही आज तक मैं तुझे बड़ी विदुषी समझती थी। परंतु अब.....

चित्रलेखा – परंतु अब....

पत्रलेखा – अब ? अब उससे बिल्कुल उल्टा। तेरा नाम चित्रलेखा है। सो बस ठीक ही तो है। तूं वास्तव में चित्रामण की लिखी हुई पुतली के समान ही है।

चित्रलेखा – क्यों ! क्या हुआ ?

पत्रलेखा – क्यों ? क्या भला क्या ? देखो तो कहाँ हमारी स्वामिनी सखी 'मृगांकलेखा' और कहाँ........'सागरचन्द्र' छिः कौए के कंठ मोती की माला, क्या कहना है। बड़ा अच्छा वर ढूँढ निकाला पिताश्री ने, सखि ! मैं सच कहती हूं कि मृगांकलेखा के

योग्य वर तो धन्य सेठ का पुत्र 'अनंगदेव' था। जिसके समान रुप में तो दूसरा जगत में कोई विरला ही होगा। वाह रे क्या रुप था उसका। यदि रुप हो तो ऐसा हो, मुझे तो यह संयोग बिल्कुल ही पसंद नहीं है। परंतु हो गया सौ खैर......ठीक.......है।

चित्रलेखा – सखि ! भले जो जी में आवे सौ कहों परंतु मृगांकलेखा के लिए मैंने अनंगदेव के संबंध में जगत के अद्वितीय बंधु संवर नाम के केवलज्ञानी से पूछा था

पत्रलेखा – (चिढ़कर) हाँ उन्होंने क्या कहा था कि अनंगदेव मृगांकलेखा के योग्य नहीं है। बस–२ बैठी रह चुप।

चित्रलेखा – बड़ा आश्चर्य है कि मेरी बात पूरी सुने बिना ही योग्यायोग्य बना बैठी। ये कहाँ कहती हूं कि उन्होंने उसे अयोग्य बताया था। पहले बात तो सुन फिर मुंह बिगाड़ना। बात काटना ही तेरा काम है।

पत्रलेखा – तो–फिर–तेरे पूछने पर उन्होंने क्या कहा था ? बता।

चित्रलेखा – उन्होंने इतना ही कहा कि अनंगदेव की आयु कुल बीस वर्ष की है।

पत्रलेखा – तब इससे क्या हुआ। अरी इतना तो ख्याल कर, कि अमृत एक बूंद भी सदैव सुख देने वाला होता है। परंतु बिष खाते ही प्राण लेता है।

मृगांकलेखा – (स्वगत) कैसी मूर्ख है ! इनको इतनी भी समझ नहीं है कि इस प्रकार का संलाप पतिव्रता स्त्रियों को तो श्रवण करने योग्य भी नहीं। जब मेरे पिता मुझे आर्य 'सागरचन्द्र' को दे चुके, वाक्‌दान हो चुका, तब मुझे इनकी इस प्रकार की बातें सुनना भी अधर्म है, पाप है, महापाप है। आर्य सागरचन्द्र मेरा। मैं

उसकी। वह मेरे शरीर के स्वामी बन चुके हैं। वे मेरे जीवन का सर्वस्व प्राणों का आधार अरे रे, क्या करुं जी में आता है कि इन्हें धक्का मारकर यहां से निकाल दूं। परंतु शरम आती है। कहेगी कि अपने पति का पक्ष लेकर हमारा तिरस्कार किया। अच्छा खैर ज़ाने दो। इस वक्त जवानी के मद में यदा तदा बक रही है। इनकी बातों पर ख्याल करना व्यर्थ है।

चित्रलेखा – सखी पत्रलेखे ! भले तूं जो चाहे सो कह, परंतु सागरचन्द्र जैसा वर, अपनी सखी को मिला है। यह बड़े पुण्य का उदय समझना चाहिए।

पत्रलेखा – चल, चल ! तेरी यह मुँह मीठी बातें मुझे नहीं भाती। नाहक झूठी प्रशंसा करने से क्या फायदा। (एक ओर) हूँ लिए फिरती है। सागरचन्द्र। बड़ा अच्छा वर ढूंढ निकाला है। बस–बस जाने दे निकम्मी। शोभा के पुल न बांध, देख ली अब मैंने तेरी बुद्धि।

सागरचन्द्र – (क्रोधपूर्वक) अरे ! जिसके लिए मैं अपनी शान भान भूला था। और पाने के लिए तड़प रहा थ। जिसके रुप को देखकर मैं मोहित हो रहा हूं। हा वह तो मेरे संबंध में अपनी सहेलियों के मुख से इस प्रकार के वाक्य सुन सुन कर मुस्कराती है। खुश होती है। इसके रुप को लेकर क्या करुं ? धिक्कार है मुझे धिक्कार। कि मैं इसके पिछे इतना पागल बन गया और धिक्कार मात्र से संतोष कर लेना मेरा मन नहीं मानता। इस पापिनी का शिर धड़ से अलग कर दूँ। (दांत कटकटा कर म्यान से तलवार निकालकर मृगांकलेखा को मारने दौड़ता है। धनमित्र हाथ से तलवार पकड़ कर रोकता है)

धनमित्र – (धीरे से) अरे रे हैं हें यह क्या ? यह क्रोध करने का अवसर नहीं है। आपकी बुद्धि और विवेक कहाँ चला गया ? कुटिल से कुटिल भी स्त्री हो तो उसका वध न करना चाहिए। तो यह तो विशेष लज्जावाली निष्कलंक द्वितीया के चन्द्रमा के समान विमल, पाप रहित, 'मृगांकलेखा', छिः यह आपका कैसा निर्दय कृत्य ? जरा होश में आओ। जरा विचार तो करो कि, इसमें उसका क्या दोष है ? सहेलियाँ परस्पर में हँस रही है। इनके बीच में उलझना योग्य नहीं है। उसे मौन ही धारण करना अच्छा है। देखो उसके चेहरे के भावों से साफ प्रतीत हो रहा है, कि वह अवश्य ही अपने अंतःकरण से पत्रलेखा का तिरस्कार कर रही है। इसमें इसका कुछ भी अपराध नहीं है। (सागरचन्द्र तलवार को म्यान में करता है। और धनमित्र समझाता हुआ घर ले जाता है। मृगांकलेखा उठकर माता के भवन में जाती हे। लग्न का दिन आने पर दोनों का विवाह होता है)।

सागरचन्द्र – (स्वगत) अब क्या करना चाहिए ? पिताजी ने मेरे लिए स्वयं इसकी मंगनी की ओर अब इस वक्त मैं इसे न स्वीकार करुं तो ठीक नहीं। खैर अब यही ठीक है कि इसके साथ विवाह करके छोड़ दूँ। फिर न तो कभी इसके साथ बोलूँगा, और न मैं कभी इसका मुख देखूँगा। बस इसके नसीब में दुहाग ही लिखा है। (विवाह हो जाने पर सागरचन्द्र अपने महल में जाता है। और नए महल में जो मृगांकलेखा के लिए तैयार किया गया था, उसमें उसकी सहेलियाँ मृगांकलेखा को ले गई। बाकी के सब लोग धीरे–२ जाते हैं)।

अंक दूसरा

पहला दृश्य

(मृगांकलेखा का शयनगृह)

चित्रलेखा – (पत्रलेखा से) इधर, इधर, देख में इधर हूँ।

पत्रलेखा – (नजदीक मे धीरे से) क्यों क्या है ? यह क्या हुआ। एकदम विवाह होते ही।

चित्रलेखा – (आँखों में आँसू लाकर) सखि कौन जाने मेरी तो समझ में ही कुछ नहीं आती कि 'आर्य' ने इनको किस अपराध से दुहाग दे दिया। मैं यह प्रतिज्ञापूर्वक कहती हूँ कि 'सखी मृगांकलेखा' से 'आर्य' का किंचित मात्र भी अपराध नहीं हुआ। क्या तूं नहीं जानती कि मैं हमेशा रात दिन शरीर की छाया के समान इनके साथ रहती हूं। यदि साक्षात् ब्रह्मा भी आकर कहे कि 'मृगांकलेखा' से 'आर्य' का अमुक अपराध हुआ है। तो भी मैं यह नहीं मान सकती ? बड़े खेद की बात है कि बिना किसी बात का निर्णय किये ही इस प्रकार त्याग देना यह 'आर्य' के लिए सर्वथा अयोग्य है। परंतु क्या करुं ? किससे कहूँ ? देव विमान के समन भी यह मकान आज कारागार प्रतीत होता है। क्या मृगांकलेखा सखी के दिन इसी प्रकार कटेंगे। सखि ! आर्य के रुष्ट हो जाने का कारण क्या तूं भी कुछ नहीं निकाल सकती ?

पत्रलेखा – (निःश्वास लेकर) सखि ! क्या तूं ये मानती है कि, इस दुःख बनाव से मेरे चित्त में कुछ भी पीड़ा नहीं हुई है। अरे रे....२ सखि ! में अभि वहाँ से ही आ रही हूँ। मुझे आर्य के रुष्ट हो जाने का कारण खोजने के विचार में ही यह दिनरात व्यतीत होते हैं।

परंतु कुछ पता नहीं लगता है। सखि ! मनुष्य के हृदयगत भावों को जान लेना यह तो मुश्किल नहीं है। परंतु जब वे यहाँ आते ही नहीं हैं। और उनके पास जाते हैं तो आँख उठाकर भी सामने नहीं देखते हैं। बता सखी क्या किया जाय, कैसे आर्य को समझायें मेरे तो कुछ समझ में भी नहीं आता है। मैंने सुना था अभी कि वे एकांत में बैठकर कुछ पढ़ रहे हैं। यह अवसर देख मैं वहाँ गई, परंतु मुझे देखते ही झट नीचे उतरकर अपने पिताश्री के पास जा बैठे। बता क्या किया जाय ? परंतु इतना तो जरुर है कि उनका कोई न कोई, सखी मृगांकलेखा से अपराध जरुर बन चुका है। अन्यथा 'सागरचन्द्र' का इस प्रकार रोष धारण करना कोई भी न मानेगा। वे तो मृगांकलेखा को इस प्रकार भूल बैठे हैं, जैसे मनुष्य को बुरा स्वप्न आता है और उसी क्षण उसे भूल जाता है। ज्यादा क्या कहूँ, दुश्चरित्र की तरह सखी का नाम भी वे किसी से सुनना नहीं चाहते हैं।

चित्रलेखा – सखि ! कुछ भी हो मेरा तो 'मृगांकलेखा' की अवस्था देखकर हृदय फटता जा रहा है। वह विचारी रात दिन रो रोकर व्यतीत करती है। और यही विचारती है कि मुझसे कौनसा अपराध हो गया है। जो मैं विवाह होते ही दुहाग के दुःख सागर में धकेली गई ? सखि ! इसके वाक्यों को व विलाप सुनकर पत्थर भी पसीज जाय। परंतु न जाने हमारे हृदय दो टुकड़े क्यों नहीं होते ? सखि ! वह 'आर्य' का कुछ भी दोष नहीं निकालती, किन्तु अपने ही किये हुए पूर्वकृत कर्मों का दोष देखती है। न रात में नींद है न दिन में चेन है, न पेटभर खाती है, न पीती है। विलेपन श्रृंगार वस्त्रादि की तो बात ही क्या ? बस ऐसा ही प्रतीत होता है

कि वह बस मृत्यु की शरण ही खोज रही है।

पत्रलेखा – सखि ! देख देख – उधर देख सखी शय्या से उठकर कुछ लेना चाहती है। (दोनों सखियाँ उसके पास जाती है और मृगांकलेखा से पूछती है)

चित्रलेखा – सखि ! कहो क्या चाहिए ?

मृगांकलेखा – मृत्यु, सखि !

ना जानूं क्यों होता है ये जिंदगी के साथ,
अचानक ये मन किसी का छोड़ने के बाद,
कर फिर उसकी याद छोटी-छोटी सा बात,
वोही हैं डगर वोही है सफर या हैं नहीं आज मेरे प्राण पालक।

बाबुल का आंगन छोड़कर आने का दुःख कितना होता है। वो मैं भलीभांति जानती हूँ.....लेकिन साजन के पीछे इन दुःखों को भूल जाते हैं। रात ज्यों ज्यों जवान होती जा रही थी मेरे बेचेन हृदय की धड़कन बढ़ती चली जा रही थी। मैं हर आहट पर काँप रही थी.....आज मुझे हवा का नर्म झोंका भी डरा रहा था मैं दुल्हन बनी फुलों की सेज पर बैठी थी........मेरे देवता मुझे मिलेंगे.......इसी खुशी मे हृदय हिंचकोले ले रहा था। लाल पीली दिपमालाओं की रोशनी, जुगनुओं के समान जगमगा रही थी। चारों ओर खुशियों का आलम लग रहा था.......मेरे देवता धीरे–धीरे कमरे के द्वार पर आयेंगे, मैं खड़ी होकर पुष्पमालाओं से उनका स्वागत करुंगी। यह जीवन की अमूल्य घड़ी थी। खड़ी थी मैं मन ही मन उनके सारे प्रश्नों, सारी बातों को सुनने के लिए तैयार हो रही थी। सुनहरे झिलमिलाते हुए सपने अब साकार होने को तड़प रहे थे.....परंतु वे

तो अभी भी नहीं आये आधी रात से भी अधिक रात्री व्यतींत हुई है, मेरा दिल धड़कने लगा और मन बेचैन हो उठा.....अहो क्या स्वागत इस तरह होता है। शादी तो दो दिलों का बंधन होता है। ....आपसी एक अनोखा रिश्ता होता है जिसकी डोर.....जीवन खेवैया के हाथों में होती है। मेरी सहेलियों ने तो कहा था यह रात बड़ी ही पवित्र स्वर्णिम होती है। पर कहाँ...है स्वर्णिमता उनके मुंह पर न तो कोई उमंग है न कोई उल्लास है। क्या कहीं वे मुझे पाकर नाराज तो नहीं हैं.....नहीं......नहीं ऐसा कभी नहीं हो सकता है। ....यह असंभव है। असंभव तो फिर मेरा मन इस अज्ञात कुशंकाओं से क्यों घिरा जा रहा है ? मेरी खुशियों की दिवारें एक एक करके गिरती हुइ नजर आ रही है। क्या यही खुशी होती है? क्या यही नारी के अरमान होते हैं। क्या यही उमंग होती है ? आखिर ये क्यों नहीं आये, क्या दोष है........मेरे अपने देवता ही मुँह मोड़कर बैठ जाए तो फिर गाड़ी कैसे चलेगी ?

चांद को क्या मालूम चाहता है इसे कोई चकोर।
वो बेचारे दूर से देखे करे न कोई शोर।।
दूर से देखे और ललचाये, प्यास दिल की बढ़ती जाये।
बदली क्यों जाने ना पागल, किसी के मन का चोर।
संग चले तो साथ निभाना, मेरे साथी भूल न जाना।
मैंने तुम्हारे हाथों में दे दी, अपनी जीवन डोर।।

अरे रे यह क्या ? मैं मन ही मन चीख पड़ी। नहीं नहीं ऐसा कभी नहीं हो सकता। अपने अरमानों......की देवी को आपको अपनाना ही होगा। भला....आप कैसे....नहीं अपनाओगे। आप ? औरत....

अपने स्वामीनाथ के बिना अधुरी है। सागर बिना सरिता की किमत ही क्या है ? उनका अस्तित्व.......उनकी मंजिल तो होती ही है। ओहो मुझे क्यों अपनाने के लिए तैयार नहीं हैं। क्या कसूर हे मेरा. ...अगर आप ही....इस प्रकार मुँह मोड़ लोगे तो.....फिर मुझे इन रिश्ते नातों से क्या....सरोकार है। मेरा मन चित्कार कर उठा। आखिर क्यों भेजते हैं, अपनी जान से प्यारी बच्ची को.....ससुराल. ...क्या इसलिए.....कि......वो क्षमा, प्यार......त्याग.....की कुरबानी बनी रहे। उसकी जिंदगी सहनशीलता......की डोर से गुजर जाये.....नहीं. ...नहीं ऐसा नहीं.....हो सकता है। आशा...अरमान...तो अपने....व्यक्ति से ही होते हैं। चाह कर भी दुल्हन ये सब सहन नहीं कर सकेगी। जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती है। मुझे....मुझे....अपनाना ही होगा। आपको वरना मेरी मंजिल अधूरी रह जाएगी। बिना प्यार की जिंदगी तो मरघट...सी होती है। दिल....किसी अज्ञात आशंकाओं से तेजी से धड़कने लगा....सोच....सोच कर हरपल...भारी हो रहा है। सपनों की......रंगीन दुनियां मेरे से दूर जा रही थी......और मैं चुपचाप देख रही थी....पल भर में मेरे सारे अरमान यूं टूटकर बिखर....गये थे, जैसे फर्श पर फेंके हुए फूल..... ।

चित्रलेखा – सखि ! मत रोओ, धैर्य धारण करो। हाय–हाय, मृत्यु, यह क्या कहती हो। (रोती है)

पत्रलेखा – (दोनों को समझाती है) सखि ! धैर्य रखो। बस करो जाने दो। इस प्रकार रोने और दुःख करने से क्या होगा ?

मृगांकलेखा – इस समय तो रोने से ही तो चित्त को शांति मिलती है।

पत्रलेखा – नहीं, नहीं। सखि ! रोने से उलटा ज्यादा दुःख होता है। और कर्मबंधन होते हैं। दुःख बढ़ता है।

मृगांकलेखा – तब तो और भी अच्छा है। अत्यंत दुःख के बढ़ने से शीघ्र ही मृत्यु आ जाएगी। (मूर्छा खाकर गिरती है। दोनों सखियाँ उपचार करती हैं। मृगांकलेखा उठकर बैठती है, धीरे–धीरे परदा गिरता है)

दूसरा दृश्य

(स्थान – राजा अवंतिसेन का दरबार, राजा बहुत से दरबारी लोगों के साथ प्रवेश करता है। राजा सिंहासन पर बैठता है। और लोग अपने अपने स्थानों पर बैठते हैं।)

मंत्री – (सिर झुकाकर दोनों हाथों से प्रणाम कर) जय हो विभो ! मैं आपका विवेकसार मंत्री प्रणाम करता हूँ।

राजा – (आदर सहित पास में बैठाते हैं।)

प्रधान – जय हो ! जय हो ! महाराज।

राजा – अच्छा ! प्रधानजी ! आइए। आइए। (हाथ से इशारा करके बैठाता है)

सागरदत्त – महाराज मैं सागरदत्त आपको प्रणाम करता हूँ।

राजा – अहो... सेठजी सागरदत्त आओ ! आओ यहाँ आओ। (अपने नजदीक में बैठाता है) कहो आनंद है ? किसी बात की तकलीफ तो नहीं है ?

सागरदत्त – महाराज ! जिसकी रक्षा साक्षात् गरुड़ करता है। तो क्या उसको कभी सर्प से भय होता है। जिसपर आपकी कृपा हो वह निरानंद कैसे रह जाता है। महाराज आपकी कृपा से आनंद ही है।

राजा – (खुश होकर) मैं जानता हूँ। अच्छी तरह जानता हूँ कि

तुम कुछ बोलते हो, वह युक्ति दिये बिना नहीं बोलते हो (मंत्री से) क्यों मंत्री जी ?

मंत्री – जी महाराज ! आप बहुत ही ठीक कह रहे हो।

राजा – मुझे सेठ का बोलना बहुत प्रिय लगता है।

सागरचन्द्र – (झुककर) यह आपका आज्ञांकित सेवक भी प्रणाम करता है।

राजा – अच्छा ! क्या सागरचन्द्र ? तुम भी आ गए। ठीक हुआ मैं तुमको बुलाने वाला ही था, अच्छा हुआ कि तुम स्वयं ही आ गये।

सागरचन्द्र – आज्ञा ! महाराज। कृपा कीजिए।

राजा – अच्छा। आओ मेरे पास में आओ और बैठो। मैं अभी कहता हूँ। (सागरचन्द्र घुटनों के बल बैठता है)

विदुषक – (विचित्र प्रकार का वेष धारण किए हुए सभा की ओर आंखों को मटकाता हुआ। 'कैरव' राजा के सामने खड़ा हो दोनों हाथ ऊँचे करके) पृथ्वीनाथ प्रजापालक महाराज की जय हो ! विजय हो ! (सभा में मनोरंजन करता है)

चिरंनंद चिरंजीव चिरं पालयमेदिनम्,
आधिव्याधिनष्ट होवे। निकल भागे आपदा।।

राजा – आहो । कैरव, क्या तुम आ पहुंचे। देखो तुम्हारे बिना सभासदों के चेहरे कैसे उदास दिखते हैं ?

विदूषक – महाराज ! बेशक, ऐसे उदास मालूम होते हैं, जैसे १०८ वर्ष की बुढ़िया को उसके पोते, पड़पोते, श्मशान में जलाकर हा न आए हो। (सब लोग जोर से हँसते हैं)

मंत्री – (कैरव से) पंडितजी जान पड़ता है कि आज भांग की

मात्रा कुछ अधिक बढ़ गई है। अच्छा बैठो।

विदूषक – जी हाँ ! लीजिए बैठता हूँ। परंतु आप जरा मेरी कमर को सहारा दीजिए।

राजा – क्यों कमर को क्या हुआ है ?

विदूषक – महाराज ! कुछ न पूछिए ? आज प्रातःकाल में उठते ही नितीशास्त्र के एक महावाक्य ने मुझे बाली को सुग्रीव की तरह आ ललकारा। भला फिर मैं आपका नमक खाने वाला कैरव उसकी ललकार को कैसे सहन करता ? बस उसकी आवाज सुन, मैं भी कमर कसकर उसको परास्त करने के इरादे से, उसके सामने मैदान (घर के आंगन मे) मैं उतर पड़ा। परंतु उसको तो क्या परास्त करना था, लेकिन मैं ही उससे बुरी तरह परास्त हो गया।

मंत्री – पंडितजी – जरा भांग पीना थोड़ी कम कर दो।

विदूषक – (मंत्री के आगे होकर) जी ! बहुत ही अच्छा। आप जरा मेरे प्राण लेलो।

मंत्री – क्यों ?

विदूषक – क्यों क्या ? भंग पीना कम हो जाएगी।

मंत्री – क्या ? भंग के आधार पर ही आपके प्राण टिके हुए हैं ?

विदूषक – क्या ? तो इसमें भी आपको कुछ संदेह है ? मंत्री जी आपको कुछ खबर भी है ? यह भंग भवानी का ही प्रताप है। यह भंग भगवती, मेरे अंग में संग हो रंग जमा रही थी तो ही उस जंग में जीता जागता बच आया। वरना मेरे लिए आज सारा संसार ही लय हो जाता। समझे अब ?

मंत्री – अच्छा ! अब इन बिन सिर पैर की बातों को अपने जैसे भंगेड़ियों के लिए ही रहने दीजिए। और जो राजा साहेबजी पूछते हैं। कमर को क्या हुआ ? उसका यथार्थ उत्तर दीजिए।

विदूषक – (स्वगत) अच्छा इन्हें आज बार–२ भंगेड़ि कहने का स्वाद चखाऊँ (प्रगट) क्या मैंने कोई यथार्थ उत्तर नहीं दिया तो क्या गलत दिया है ?

मंत्री – क्या ?

विदूषक – नितीशास्त्र के वाक्य से संग्राम करते–२ मेरी कमर ही टूट गई। और मैं हार गया। तब मैं आपको अपना दर्शन देकर प्रसन्न करने के लिए, और अपने आपको इस दरबार को अपने चरणकमलों से पावन करने के लिए, उपस्थित हुआ हूँ। मंत्रीजी मैं आज बड़ी भारी आशा लेकर आया हूँ, दरबार में।

मंत्री – किस बात की बड़ी आशा लेकर आये हो, बताओ तो सही।

विदूषक – नितीशास्त्र के वाक्य से परास्त होकर भाग आने का कारण राजा साहेब से बहुत बड़े इनाम पाने की।

मंत्री – जो हार खाकर आता है। उसे इनाम नहीं मिलता है। परंतु धिक्कार और तिरस्कार मिलता है।

विदूषक – तब तो आपको तैयार हो जाना चाहिए।

मंत्री – किसलिए ?

जिस नीतिशास्त्र के वाक्यों से में हारा उसे आप जितकर बताइये। (स्वगत) वरना दुपट्टे से अपना मुँह दबाकर भाग जाइये।

मंत्री – वह नीति का क्या वाक्य है, बताओ ?

विदूषक – नीति का वाक्या तो यह है। राजहठ, योगीहठ, स्त्रीहठ

और बालहठ, हठ में आए हुए इन चारो हठीयों को समझाना बहुत ही दुर्लभ है। इस बात का मुझे तो आज ही अच्छा अनुभव हो गया। मैंने पूर्वोक्त चारों में से एक अंतिम वाक्यों को निश्फल करने का बढ़ा ही प्रयत्न किया परंतु सब प्रयत्न निष्फल गये। अब आप उसे निष्फल कर बतईये। वरना आप भी मेरी तरह अपनी हार मानकर यहाँ से भाग जाईये।

मंत्री – तो क्या तुम एक बालक से ही हार गये ?

विदूषक – मैं बालक से नहीं हारा हूँ। लेकिन बालक की हठ से हारा हूँ।

मंत्री – भला यह कैसे – क्या कोई बालक की हठ से भी हारता है।

विदूषक – साहब ! जब में घर से निकलने की तैयारी कर रहा था। यहाँ आने के लिए, जैसे ही चलने लगा तो, मेरा छोटा सा लड़का हठ पकड़ कर बैठ गया। मैंने उसे बहुत समझाया परंतु वह किसी भी तरह नहीं समझा। आखिर मैं उसकी हठ के आगे हार गया। समझे ?

मंत्री – हूँ ! क्या बात करते हो। तुमसे एक छोटा सा बच्चा न समझाया गया ? तो तुम से और क्या होगा ?

विदूषक – अच्छा ! तब मैं आपका बच्चा बनता हूँ। और आप बनिये बाप। मैं पकड़त्ता हूं अब हठ। और आप मुझे समझाइये।

मंत्री – हाँ। इसमें कौनसी बड़ी बात हो गई ? देखो अभी पलभर में समझा देता हूँ । बनो, मैं भी देखूं बच्चा कैसे नहीं समझता है।

विदूषक – (एक तरफ) देखता हूँ आप समझते हैं। या फिर

समझाते हो। (मंत्री की गोद में बैठकर) ऊं ऊं ऊं ऊं ऊं ऐं ऐं ऐ ऐं हें हें हें उं उं (बालक की तरह रोता है और फैल मचाता है)

मंत्री – अरे चुपकर ! क्यों रोता है। बोल क्या चाहिए तुझे ? शोर मचाता है ?

विदूषक – ऐं ऐं हें ऐं ऊं ऊं...मुझे....मु....उं उं उं झे दूध चा..हि..ए।

मंत्री – अरे वाह ! ये भी कोई बड़ी चीज है। ले चुपकर (दूध मंगाकर देते हैं)

विदूषक – (मचलकर दूध के कटोरे को पैर से ठोकर लगाता है। दूध मंत्री के वस्त्रों पर गिरता है, सारी सभा हँसती है और तालियाँ बजाती है। कैरव फिर से उसी तरह रोता है) उं ऐं ऐ उं हें उं उं उं क्या करुं अकेला दूध !

मंत्री – रोता क्यों है ? ले पानी भी साथ में ले। (पानी की गिलास देता है)

विदूषक – एँ अ एं अ उं उं उं हैं हूं । क्या करुं अकेले दूध और पानी ?

मंत्री – तो बता तो सही और तुझे क्या चाहिए ? चुप रहो बेटा चुप रहो।

विदूषक – दूध और पानी दोनों मिलाकर दो।

मंत्री – (दूध के कटोरे में पानी मिलाता है) ले बेटा ले। बस अब चुप कर।

विदूषक – (अपनी छाती में दोनों हाथ मारकर) हाय, हाय, यह क्या किया। (ऊँचे से रोकर) दूध के कटोरे में पानी मिलाने का किसने कहा था। (दूध में हाथ मारता है दूध पानी मंत्री के वस्त्रों

पर गिरता है) नहीं नहीं। मुझे तो पानी में दूध मिलाकर दो। दूध में पानी नहीं।

मंत्री – (उस दूध को पानी वाले गिलास में डालकर) ले भाई यूं ले। बस अब तो खुश।

विदूषक – (चिढ़कर) हाय ! हाय ! यह तो वो का वोही हुआ हैं दूध में पानी की तरह। ऐं ऐं ऐ उं हैं है हूं उं उं (जोर से रोता है)

मंत्री – तो बता अब क्या करूं ? ओर कैसे करूं कुछ बता तो सही?

विदूषक – इस दूध और पानी को अलग करके फिर से मिलाकर दो।

मंत्री – अरे, मूर्ख ! ये भी क्या अभी अलग होगा ? कैसी बातें कर रहा है ले पानी, ले दूध अब।

विदूषक – नहीं हो सकता तो मैं क्या करूं ?

मंत्री – चुप हो जा। और कुछ चाहिए तो मांग। दूसरी चीज देता हूँ।

विदूषक – उं उं उं उं ऐं ऐ ऐ हैं अच्छा तो ग...न्ने गन्ने मंगा दो।

मंत्री – (गन्ने, ईख मंगाकर देता है) ले बेटा ले यह ले अब तो चुप कर। मत रो बेटा।

विदूषक – (और भी ज्यादा रोता है) आँ आँ आँ ऐं ऐ उं उं उं उं। (रोता है)

मंत्री – अरे अब क्यों रोता है ? अब तो तुझे गन्ने भी लाकर दिये हैं।

विदूषक – मैं क्या करूं ? साबत गन्ने को इसकी गंडेरियाँ बनाके दो।

मंत्री – (गन्ने की गंडेरियाँ बना कर देता है) ले बस ! अब तो चुप कर।

विदूषक – (चिढ़कर गन्ने को फेंकता है) मैं क्या करूं इसे ? इसके टुकड़े–२ कर डाले। (फिर रोता है)

मंत्री – दुःखी होकर – तो फिर क्या करूं ? बता क्या करना है?

विदूषक – क्या बताऊँ ? इन्हें फिर से साबत कर दो – जोड़कर वापिस कर दो।

मंत्री – अरे मूर्ख ! यह फिर सै साबत कैसे हो सकती है ? ले अब खा ले इसे और चुप कर।

विदूषक – हुं चुप क्यों रहुं ? ऐं ऐ ऐ उं उं उं (फिर रोता है) मुझे साबत करके दो।

मंत्री – चल यहाँ से हट जा। मुझसे नहीं समझाया जाता है। उठ परे।

राजाजी – (मंत्री से) वाहजी मंत्रीजी। यह क्या किया आप तो बड़े ही बुद्धिशाली हो ! विशारद हो ! इससे पहले तो प्रतिज्ञा नहीं करते तो अच्छा रहता।

विदूषक – (हाथ जोड़कर) महाराज ! मेरे लिए जो इनाम मंत्रीजी ने प्रदान करने को कहा था वह इनाम आप इन्हीं को कृपा कर दीजिए। (मंत्री से) हजूर नीति के वाक्यों को कोई नहीं तोड़ सकता है।

राजा – विदूषक अब तुम गड़बड़ न करो। (मंत्री से) यह लो (पत्र देकर) लाट देश के राजा का पत्र। पढ़ो देखो क्या लिखा है।

मंत्री – (पत्र पढ़कर) महाराज ! अब इनको बड़ा अभिमान हो गया है।

राजा – बोलो मंत्रीजी तो अब क्या करना चाहिए ?

मंत्री – महाराज ! उसका अभिमान तब तक ही है। जब तक आप उसके उपर चढ़ाई नहीं करते।

राजा – अच्छा, तो मैं अभी यही चाहता था। (दीवान से) दीवानजी!

बस अभी इसी समय सेनापति को आज्ञा दो कि सैन्य तैयार करके मुझे समाचार दो।

दीवान – जी, महाराज ! जैसी आपकी आज्ञा। (जाता है)

राजा – (सागरदत्त से) सेठजी !

सागरदत्त – (हाथ जोड़कर) आज्ञा महाराज !

राजा – आपने कुछ सुना ?

सागरदत्त – जी महाराज ! कुछ कुछ सुना है।

राजा – लाट देशाधिपति मुझे लिख रहा है कि, तुम मेरी आज्ञा का पालन करो। देखो तो भला लाट देश का राजा मुझे आज्ञा मानने का हुक्म देता है।

सागरदत्त – (क्रोध में आकर) महाराज ! बस कीजिए। बस कीजिए। यह वाक्य हम नहीं सुन सकते। क्या आप हमारे शिरछत्र राजाधिराज होकर उनकी आन मानेंगे ? नही–२, हरगिज नहीं।

मंत्री – धन्य हैं सेठजी ! आपने बहुत ही अच्छा कहा। यह आप अच्छी तरह याद रखिए कि हमारे महाराज की विजय अवश्य ही होगी।

विदूषक – (उठकर) जिस सैन्य के साथ मैं होऊं, और विजय प्राप्त न हो ऐसा कभी हुआ था ? लो मैं अभी ढ़ाल, तलवार कसकर आता हूं। और बाल बच्चों को मिलकर आता हूं। (स्वगत) कहीं ऐसा न हो कि राजाजी मुझे भी संग्राम में साथ चलने के लिए कह बैठें। इससे अच्छा पहले ही निकल जाऊं। युद्ध का नाम सुनते ही मेरा तो शरीर कांपने लगता है। इसलिए पहले ही खिसक जाना चाहिए।

राजा – क्यों कैरव, क्या हुआ। जा क्यूं रहे हो।

मंत्री – क्यों–कयों, पंडितजी राजा साहेबजी क्या कहते है। क्या डरकर भाग चले ? डरो मत पंडितजी तुम्हें साथ नहीं ले जायेंगे। बैठिए ! बैठिए ।

विदूषक – (स्वगत) क्या जाने यह लोग गुप्त भावों को कैसे जान लेते हैं ? (प्रगट) क्या कहा ! क्या मुझे आप लोग डरपोक समझ रहे हो। सबसे पहले मैं ही तैयार होने को चला हूं।

राजा – अच्छा ! जाओ तब शीघ्र तैयार होकर आ जाओ।

विदूषक – (स्वगत) हाय, हाय, अब क्या करूं। जो शब्द मैं सुनना नहीं चाहता था वही शब्द राजाजी सुना रहे हैं। न चलूं तो मुश्किल और चलूं तो संग्राम के नाम सुनते ही हाथ पैर कांपने लगते हैं। और रणक्षेत्र तो देखकर प्राण ही परलोक चले जाऐंगे। क्या करूं अब युद्ध करना तो शूरवीर और क्षत्री पुरुषों का काम है। कहाँ मैं ठहरा ब्राह्मण। आगे नदी पीछे बाघ। क्या करूं ? देखो तो भला इस (सागरदत्त) बनिये को कितना शूरातन आ गया है। अच्छा चलो देखा जायेगा राजा के साथ ही रहूंगा। (जाता है)

राजा – (सागरदत्त से) आप अपने पुत्र नीति चतुष्क, चातुरी, वाचस्पति सागरचन्द्र को सैन्य के साथ भेजिए। क्योंकि 'सागरचन्द्र' के समान बुद्धिमान गुणशाली मेरी समझ में दूसरा कोई नहीं नजर आता है। सैन्य को खानप्रानादि जो जो वस्तु चाहिए। वह इसके बिना दूसरे कोइ पूरा नहीं करेगा।

सागरदत्त – (सागरचन्द्र के तरफ हाथ करके) महाराज ! ये आपके सामने ही मौजूद है।

सागरचन्द्र – (विनय के साथ उठकर) आज्ञा महाराज !

राजा – तुम्हें सैन्य के साथ चलना होगा।

सागरचन्द्र – महाराज ! आपकी आज्ञा का पालने के लिए सदैव तैयार हूँ।

राजा – धन्य है। मैं अच्छी तरह जानता हूँ। तुम मेरी सभा के भूषण हो ! (स्वयं पान बीड़ा देकर) अच्छा तो कल विजय मूहूर्त में प्रयाण होगा।

सागरचन्द्र – आज्ञा महाराज ! अब मैं.......

राजा – हां हां अब तुम खुशी से जाओ और अपनी तैयारी करो।

(राजा सहित सब लोग जाते हैं, परदा गिरता है)

तीसरा दृश्य

(स्थान – सागरचन्द्र का महल)

सागरचन्द्र – जनार्दन !

जनार्दन – जी महाराज ! आज्ञा ?

सागरचन्द्र – सैन्य को जो जो रसद, सामग्री चाहिए, उसका क्या कुल प्रबंध हो गया ?

जनार्दन – जी महाराज ! आपकी आज्ञानुसार भंडारी ने सब कुछ प्रबंध कर लिया। जो जो रसद चाहिए थी। वह गाडा में भर कर चालान भी कर दिया। और असबाब ऊंटों पर और खच्चरों पर लादा जा रहा है। मंत्री का समाचार आया है कि आज का पड़ाव संयोजिका नदी के किनारे ही होगा।

सागरचन्द्र – अच्छा ! तब तुम यहीं ठहरो। मैं अभी माताजी की आज्ञा लेकर सबसे मिलकर आता हूँ। धनमित्र आवे तो ठहराना। (सागरदत्त पद्मावती सपरिवार प्रवेश करते हैं। सागरचन्द्र उठकर

विनय के साथ बैठता है)

सागरदत्त – वत्स !

सागरचन्द्र – (हाथ जोड़कर) जी पिताजी !

सागरदत्त – क्या तैयारी कर ली ?

सागरचन्द्र – जी हाँ ! अब जाने के लिए तैयार हूँ। अभी आपकी सेवा में हाजिर ही होने की तैयारी कर रहा था। अब आप ही स्वयं आ पधारे ! (माता से) माँ ! मैं प्रणाम करता हूँ। और जाने के लिए आपकी आज्ञा चाहता हूँ। आप मुझे आशीर्वाद दीजिए। (चरणों में गिरता है)

पद्मावती – (स्नेह के साथ माथे पर हाथ फेरती है) बेटा ! चिरंजीव रहो ! तुम्हारी यात्रा निर्विघ्नता से समाप्त हो। और तुमको विजय प्राप्त हो। वत्स ! तुम्हारे वियोग से आज यह परिवार उदासी धारण कर रहा है। देखो भूल न जाना शीघ्र ही आकर सबको आनंदित करना। (चेटी से) मैना !

मैना – जी हाँ। यह आई माँ !

पद्मावती – कहाँ है वह कुंकुम और अक्षत की थाली ?

मैना – जी हाँ ! यह रही लीजिए। (चाँदी की थाली में अक्षत पुष्पों की माला और कटोरी में धोला हुआ कुंकुम)

पद्मावती – वत्स लो इधर आओ। (एक कन्या से) ले अपने भाई को मंगल सूचक तिलक करो।

कन्या – (तिलक करके) अब क्या करूं माताजी ?

पद्मावती – अब यह अक्षत ले चुटकी में, और तिलक के उपर लगा। (कन्या वैसा करती है)

कन्या – अक्षत चौंटा कर खुश होती हुई) बस !

पद्मावती – बस क्या ? यह ले पुष्पों का हार भाई के गले में पहना दे।

कन्या – (भाई को पुष्प का हार पहनाती हुई खुश होती है और) आप विजय करके महाराजजी के साथ शीघ्र ही लौटेंगे।

सागरचन्द्र – (अंगरक्षक) यशोधर पांच सुवर्ण मुद्रा दो !

यशोधर – (बटुओं से पांच सुवर्ण मुद्रा निकाल कर देता है) लीजिए साहेब।

सागरचन्द्र – (कन्या को पांच सुवर्ण मुद्रा देकर माता के चरणों में प्रणाम करता है)।

पद्मावती – वत्स चिरंजीव रहो। (सिर पर हाथ फेरती हुई आशीष देती है)

सागरदत्त – बेटा ! यह लो श्रीफल, और मोहरें, जाते हुए जिनालय में प्रभु के दर्शन करके जाना ?

सागरचन्द्र – बहुत ही अच्छा। आपकी आज्ञा। अच्छा अब में आज्ञा चाहता हूँ।

सागरदत्त, पद्मावती – वत्स तुम्हारा कल्याण हो। मन में पंचपरमेष्ठि नमस्कार महामंत्र का स्मरण करते रहना। बहुत ही अच्छा मूहूर्त है। जाओ वत्स जाओ। शीघ्र ही प्रयाण करो। आनंद में रहना।

सागरचन्द्र – (घर के सभी दास दासियों को बुलाकर उनको यथायोग्य पुरस्कार देता है)

मृगांकलेखा – (भीतर से) चित्रलेखा – हले। तूं ने नहीं सुना ?

चित्रलेखा – क्या ? सखि !

मृगांकलेखा – राजा 'अवंतिसेन' के सैन्य के साथ......'आर्य' का

गमन ?

चित्रलेखा – हाँ, हाँ। वे अभी सब परिवार से मिल रहे हैं। माताश्री उनको मंगल प्रयाण का तिलक कर चुकी हैं। सखि ! वे अब जाने की तैयारी में हैं।

मृगांकलेखा – सखि ! मुझे संदेह है कि सैन्य में गये हुए 'आर्य' के वापस लौट आने तक मेरा यह शरीर रह सके। वे भले मुझसे पराँमुख हैं। तो भी मैं एकबार उनके चरणों में जाकर पडूँ और दर्शन कर अपने अपराधों की क्षमा मांगू (स्वगत) क्या मेरे प्राणेश मुझे क्षमा करेंगे ? क्या वे मुझे अपनी प्रेमाल दृष्टि से निहारेंगे ? नहीं नहीं, ये मेरी आशा मृगतृष्णा के समान है। मेरे लिए वहां कृपा दृष्टि नहीं है। वहां उनके दिल में दया नहीं है। वे देखें किसे ? और बुलावें किसे ? उनके लिए जब मैं कुछ हूँ ही नहीं, तो ये सारी बातें कैसी ? परंतु क्या हुआ ? वे तो मेरे हैं। मैं उनकी हूँ। मैं चलकर अपने इस अभागे मस्तक को उनके चरणकमलों में डालूं। स्वामी के चरणों का स्पर्श होना ही मेरे लिए बस है। अरे मन अब थोड़ी देर के लिए ढ़िठाई धारण कर ले। अरी जीभ, अब चुप रहने का समय नहीं है। जरा सोच देख। बहुत काल तक मौन धारण किया। अब तो बोल, बोल अब तो कुछ। अरे नेत्र तुमने इक्कीस वर्ष पर्यंत से आज तक चोरी की है। तुमने अपने प्राणनाथ को रोज चोर की तरह ही देखा। छिपकर। ठहरो, आज तुम्हें अपने स्वामीनाथ के सामने होना ही पड़ेगा। तुम्हें अपने किये हुए अपराध की सजा भुगतनी ही पड़ेगी। देखो ! तुम हमेशा आँसुओं से भिंजे रहते हो। बस आज थोड़ी देर के लिए सुख जाओ (आंचल से आंसू पोंछती है) बस खबरदार प्राणेश्वर के दर्शन में

बाधा डालने के लिए डब डबा गई तो ? अरे हाथ आज से इक्कीस वर्ष पहले तेरा स्वामी ने तुझे अपने हाथ में लिया था। तुझे अपनांया था। उस समय तूं कितना संकुचित होता था, याद कर अपनी लज्जालु प्रवृतियों को। आज तूं उनको चरणों को पकड़ ले। यह समय संकोच का नहीं है। लज्जा का नहीं है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को देखकर चल। इस समय आज लज्जा करना व संकोच करना ठीक नहीं है। (प्रगट) चित्रलेखा ! चल उठ, मुझे 'आर्य' के दर्शन करने हैं चल उठ 'आर्य' को भेंट के आती हूँ। (दोनों प्रवेश करती है, सागरचन्द्र की दृष्टि पड़ते ही मुंह मोड़ लेता है और तिरस्कार पूर्वक धक्का देकर चला जाता है)

चित्रलेखा – (धीरे से) देखो ! देखो ! किसी कार्य में व्यग्र हुए ! हुए 'आर्य' ने आपकी तरफ देखा ! और फिर अपना झट से मुंह मोड़ लिया।

मृगांकलेखा – (श्वास लेकर) हाँ, हाँ, मैंने देख लिया उन्होंने वैसे ही किया है, जैसा तूं कहती है। परंतु क्या हुआ। अब मेरा मन धड़कना बंद हो गया है। मेरे शरीर में चेतनता है। मेरे हृदय ने अब धैर्य धारण कर लिया है। बस अब मुझे 'आर्य' के बिना कोई भी नज़र नहीं आते हैं। तूं ठहर यहीं ! यहीं ठहर। (एकदम झपटकर सागरचन्द्र के चरणों में गिर जाती है) नाथ ! इतना काल व्यतीत हो गया। परंतु इस अभागिनी से क्या अपराध हो गया है ? उसका कारण आज तक आपने बताया ही नहीं, स्वामीनाथ मुझे क्षमा करो। क्षमा करो। इस दासी पर रहम दृष्टि करो। नाथ ! मुझे सनाथ करो आपके बिना मेरा ज़ीवन अधूरा है। नाथ इसमें आपका कोई दोष नहीं हैं मेरे ही पूर्वकृत्य कर्मों की सजा भुगत रही हूँ।

स्वामिन् ! आश्चर्य है कि इस प्रयाण के समय में आपने घर के सब दास दासियों को बुलाकर पारितोषिक दिया है। आलाप संलाप किये और उन सभी से बातें करके आनंदित किया है। क्या मैं ही एक हतभागीनी पापीनि हूँ। जो बोलने योग्य नहीं हूँ। स्वामिन् कृपा कीजिए। मुझे मेरे अपराध का कारण बताइए। प्राणेश ! इस प्रयाण के समय तो बोलकर आनंदित कीजिए। एक बार तो बोलिए। अपनी भक्त वत्सला दिखाईए। एक बार तो निहारिए। मेरा मनोरथ पूर्ण कीजिए। मैं दुःखिनी हूँ। आप जैसे नाथ होते हुए भी मैं अनाथ बनी जा रही हूँ। आपके बिना मेरी कोई गति नहीं है। आपके बिना मुझे कोई शरण नहीं है। एक बार दया कीजिए। प्राणेश ! क्या कुछ भी दया नहीं करोगे। न सही। यदि आपको मेरे साथ बोलने में अप्रियता होती है तो आपकी मर्जी, परंतु कृपा कर यह तो बताईये इस अनुचरी से क्या अपराध हुआ ? आपकी किस आज्ञा का पालन नहीं हुआ, यह तो आप विदित कीजिए। आपके प्रतिकूल मुझ से क्या आचरण हुआ ? जिससे आप इतने रुष्ट हो गये हैं। प्राणेश ! (सागरचन्द्र रुष्ट हुआ उसी तरह पैर से ठोकर देकर एकदम चला जाता है) अरे रे ! नाथ ! स्वामिन् ! यह अयोग्य अयोग्य। सर्वथा अयोग्य है। हृदयेश (जोश में) इस दीन दासी को अकारण ही बिल बिलाती छोड़कर जाते हुए क्या आप अपने उत्तम कुल की मर्यादा नहीं देखते ? हाय नाथ ! (और मूर्छा खाकर मृगांकलेखा गिरती है, सखी उसे उठाती है)

चित्रलेखा – (रोती हुई) हाय, हाय ! यह क्या हुआ ! (गोद में लेकर हिलाती हैं अपने आंचल से हवा डालती है) सखि ! होश में आओ ! अब इस अपमान से तो हजार गुणा दुःख बढ़ गया। इसी

कारण कटी हुई वृक्ष की डाली की तरह पृथ्वी पर गिरी हुई। धिक्कार है मुझे कि इसका दुःख देखकर भी मेरा प्राण नहीं निकलता है। हे भगवान ये दुःख देखने के लिए ही मुझे पैदा किया? इससे अच्छा तो पहले ही मौत आ जाती तो ठीक रहता। अब मैं क्या करुँ, कैसे इसे समझाऊंगी ? यही लिखा है विधी ने दीर्घभाल में ? (उसके मुंह पर पानी छांटती है और होश में लाने की कोशिश करती है। मृगांकलेखा धीरे–२ आंखें खोलती है, और कहती है) प्राणेश ये आपने क्या किया ? इससे तो अच्छा रहता आप मेरे गला ही घोंट देते। सखि ! आर्य कहाँ हैं ? (अपना सिर चित्रलेखा के गोद में देखकर)।

मृगांकलेखा – सखि ! प्राणेश चले गए ? हाय (हाथ पछाड़कर) अब तू क्या करती है ? मुझे क्यों उठाती है ? अब मुझे न उठा न जगा। जा अब मुझे यहीं पड़ी रहने दे। (इतना बोलते ही फिर मूर्छा खाकर गिरती है)

एक दासी – (चित्रलेखा) आप इसे उठाकर अपने महल में ले जाओ, देखो ये बार–२ मूर्छा खाकर गिरती है। इस समय इनके दुःख का पार नहीं है। बड़ा आश्चर्य है, कि माताजी इनका यह हाल देखकर अपने मन में जरा भी दया न लाई ओर यहाँ से चली गई। ऐसी निष्ठुरता तो कोई बेरी के साथ भी नहीं करता है। यह तो इनके पुत्रवधु है। हाय, हाय यह वही मृगांकलेखा है। जिसके लिए आर्य विह्वल हुए थे। खाना पीना तक छोड़ दिया था। क्या आज उनको अपनी पिछली अवस्था याद नहीं है। अथवा क्या जाने उसी बात का (विह्वलता) का बदला लेने लगे हैं। कुछ भी हो आज इनकी अवस्था देखकर दिल चूर–चूर, हो रहा है। (सखियाँ

उठाकर अपने महल में ले जाती है) मृगांकलेखा के दुःख का कोई पार नहीं है। वह बार बार मुर्च्छित होती हुई, हृदय फाट विलाप करती है। बिना पानी मछली की तरह तड़प रही है। आज उसका बदन विरहाग्नि से प्रज्वलित हो रहा है। विलाप करते–२ सारी रात जैसे–२ व्यतीत होती जा रही है। वैसे–२ दुःख बढ़ता जा रहा है। और उसकी पलकें भारी होती जा रही थी। और निद्रा देवी ने कुछ क्षण अपनी गोद में उसे सूला दिया। सुबह धूप उपर आ चुकी थी। हवा में शोर न था.......सारा ही माहौल स्तब्ध और खामोश था..... मृगांकलेखा के सीने में एक आग सी जलती महसूस हो रही थी। आंखों में रह–रह कर अश्कों का सागर सा बहता चला जाता था। सीने में एक तीखा गुबार उठने लगा......मृगांकलेखा इस वक्त भी विचारों की दुनियां में उड़ान भर रही थी.....उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता था.....मानों जिंदगी की दौड़ में वह हार गई हो.....भला वह औरत हारेगी भी क्यों न जिसका पति अपना न हो। वह सोच रही थी अपनी मायूस जिंदगी के बारे में, क्या बनकर रह गई थी। वह जिस चीज की कल्पना इन्सान करता है। आज उसके पास उन चीजों में से क्या था ? कुछ नहीं.....यूं तो बार–२ वह मन से समझौता करती थी.....पर....यह मन चंचल मन उसके जीवन में कोलाहल मचा देता था। यूं तो उसका मन वेराग्यमय था। परंतु मानव सहज स्वभाव का मन प्रकृति का बंधन उसे सांसारिक सुख साधन आशा निराशा.....आँख मिचौली करा देता था....सुकुन नहीं था उसके पास......इस छोटी सी जिंदगी में। अपनी खुशी से नहीं जी रही थी.....मात्र एक खिलौना बनकर रह गई थी....एक खिलौना जिसको वक्त वेवक्त हँसना भी पड़ता है....और आये हुए आँसुओं

को रोकना भी पड़ता है।

इक पल है हँसना......इक पल है रोना.......
कैसा है जीवन का खेला.....इक पल है मिलना.......
इक पल है बिछुड़ना.....दुनियां है दो दिन का मेला।

आखिर ऐसा कोन सा अपराध था....जिसकी सजा वह भुक्त रही थी ?

चौथा दृश्य

(स्थान – मृगांकलेखा के रहने का भवन)

चित्रलेखा – सखि ! अब धैर्य धारण करो। आप का यह दुःख देखा नहीं जाता है। क्या करुं ? किसी का दुःख किसी से लिया भी तो नहीं जाता। नहीं तो वैसा भी कर लूँ। अपने कर्मानुसार ही यही जीव हमेशा सुख दुःख भोगता है। सखि ! तूं ही हमेशा कहती थी – **इस भव में जो ना मिले वह परभव में मिलता है। अपने अपने कर्मों का फल सबको मिलता है।** यह उपदेश आप ही सुनाकर हमारे हृदय को शांत किया करती हो। सखि ! आपकी यह दशा देखकर मेरा हृदय दुःख से भर रहा है। कंठ अवरूद्ध हो रहा है। बोला नहीं जाता है। सखि ! आप हमेशा शांत रहनेवाली आज इतनी अधीरता क्यों धारण करते हैं। लो मैं आपको एक दृष्टांत सुनाती हूँ। ध्यानपूर्वक सुनना।

पत्रलेखा – (पंखा देकर) क्यों सुनाऊँ दृष्टांत। आप सुनेंगे ?

मृगांकलेखा – (तकिये पर सिर डालकर दुःख भरी आवाज में) सुना क्या सुनाती है। हाँ मैं सुनती हूँ (स्वगत) हाय ! नाथ ! अब तक तो मैं आपके दर्शन लुप–छुप कर करती थी। मुझे आपके

दर्शन से ही संतोष था। आपके दर्शन का ही यह प्रताप था, जो मैंने इक्कीस वर्ष व्यतीत कर दिए। परंतु 'नाथ' अब मेरे प्राणों का रहना असंभव है। अरे रे नाथ ! मेरी पुकार आप तक ही थी सो आपने न सुनी (आँसू बहाती हुई श्वास लेती है) –

जो भरा नहीं भावों से, बहती जिसमें रसधार नहीं।
वह हृदय नहीं पत्थर है, जिसमें साजन का प्यार नहीं।।

चित्रलेखा – सखि ! सुनो पृथ्वीपुर नगर में एक दरिद्री रहता था। उसका दरिद्र दूर करने के लिए उसे राजा ने एक लाख रुपये का हार दिया। वह दरिद्री हार को हाथ में लेकर खुशी होता हुआ अपने घर जाता था। इतने में एक चील झपाटा मारकर हार ले गई। वह दरिद्री बिचारा हाथ मसलकर रोने लगा। राजाने तरस खाकर फिर उसे एक लाख रुपये की अंगूठी दी। दरिद्री आनंद का मारा घर दौड़ा परंतु रास्ते में उसे प्यास लगने से वह तालाब पर पानी पीने गया। वहां ज्यूं ही पानी की चुकी भरने लगा। त्यूं ही वह अंगूठी तालाब में गिरी। पड़ते ही सार अंगूठी को एक मछली निगल गई। दरिद्री बिचारा फिर रोने लगा। और पछताने लगा। तब राजा को खबर हुई। राजा ने सिपाहियों के हाथ एक लाख रुपये का धन उस दरिद्री के घर पर भेज दिया, परंतु उसी रात उसके घर चोर आये, और सब धन चुराकर ले गये। (मृगांकलेखा के मुंह पर हाथ फेरकर) सखि ! सुनती हो न ?

मृगांकलेखा – हाँ ?

चित्रलेखा – भले क्या ?

मृगांकलेखा – कुछ नहीं।

चित्रलेखा – कुछ नहीं ? मैं आपको दृष्टांत सुना रही हूँ, लो जाने दो आपका चित्त तो कहीं है, सुनाऊं किसे ? भला कहो तो आप क्या विचार रही थी इस वक्त ?

मृगांकलेखा – (अपने मन को रोकते रोकते बोल उठी) मैं विचारती हूँ) –

"मैं पियु कंठ कबू उरझी नहीं। ज्यूं उरझे तरु में बनबेली।"
"बांह धरी गर नाह हिके कबू। खूब खुशी भइ के नहि खेली।"

सागर कंठ लगी (आगे कुछ न बोल सकी रो पड़ी)

पत्रलेखा – (चित्रलेखा से) सखि ! मृगांकलेखा की यह दशा शोचनीय है।

चित्रलेखा – मैं क्या करुं। इनकी यह दशा देखकर पत्थर पसीज जाय परंतु न जाने इस हमारे हृदय के टुकड़े क्यों नहीं हो जाते? तूं ही बता कि अब मैं इसे कैसे समझाऊं।

मृगांकलेखा – अरि ! फिर क्या हुआ ? उस दरिद्री का धन चोर ले गए तब ?

चित्रलेखा – क्या आप सुनती थीं ?

मृगांकलेखा – हाँ मैं सुनती थी उसके परमार्थ को विचार रही थी। मैं उसके साथ अपना मुकाबला करती थी। जैसा उसका भाग्य पलटा हुआ था वेसे ही इस समय मेरा भाग्य पलटा हुआ है। (प्रगट) हाँ आगे क्या हुआ ?

चित्रलेखा – जब उसका धन चोर ले गया तब वह हत भाग्य दुःखी होकर मरने के लिए बाहर जाकर एक ऊँचे वृक्ष पर जा चढ़ा। इस विचार से कि यहाँ से गिरकर मर जाऊँ। तो इस दुःख

से छुट जाऊँ। परंतु उसने यह नहीं सोचा कि मेरे लिए कौन सा पलंग बिछा हुआ है ? जिसपर जाकर सो जाऊंगा। मरकर भी तो अपने किये हुए कर्मों के अनुसार ही सुख दुःख भोगना पड़ेगा। अस्तु। जब वह वृक्ष पर से गिरने को तैयार हुआ। इतने में उसे वह राजा का दिया हुआ लाख रुपये का हार पर नजर पड़ी। हार को लेकर बड़ा खुश हुआ और मरने की आशा छोड़कर घर जाने लगा। सखि ! सुनती हो न ?

मृगांकलेखा – हाँ ? सुनती हूं। (स्वगत) इस समय मेरे हृदय का हार मुझे छोड़कर चला गया। परंतु क्या इस दरिद्री की तरह कभी मेरा भी भाग्य खिलेगा ? क्या मेरा हृदय हार मुझे फिर मिलेगा ? फिर बोल क्या हुआ ?

चित्रलेखा – जब वह हार के नजदीक पहुंचा तो उसने क्षुधा दूर करने के लिए दो पैसे से एक मछली खरीदी।

पत्रलेखा – (बीच में) अरे अरे ! हाय मांसांशियों की क्या गति होगी ? अपना उदर भरने के लिए दूसरे जीवों को मारते हुए, उनके दिल में दया नहीं आती ? अच्छा जब वो मछली खरीदकर चला तब ?

चित्रलेखा – जब उसने उस मछली को चिरा तो। राजा की दी हुई लाख रुपये की अंगूठी निकली। तब उसे और भी अधिक आनंद हुआ। मारे खुशी के जल्दी–२ घर आया। घर आकर देखा तो जो धन चोर ले गये थे वे राजा के डर के मारे स्वयं उसके घर छोड़ गये। मतलब उसकी गई हुई चीजें सब ही मिल गई। इसका कारण यही है कि, जब भाग्य उलटा होता है। तब प्राप्त वस्तुओं का भी वियोग हो जाता है। और जब भाग्य सीधा होता है तब गई

हुई वस्तु भी अपने आप ही आ मिलती है। इसलिए आप धैर्य धारण करो। सखि भला विचार तो करो कि, दमयंती, सीता और द्रौपदी आदि को भी दुःख पड़ा था। उनके दुःख के साथ यदि आपके दुःख की तुलना की जाय तो किस हिसाब में है ? देखो बुरा मत मानना। मैं यह नहीं कहती कि आपकी विरह वेदना कुछ कम है। नहीं इसका अनुभव जिसे होता है वही जानता है। सखि! उन सतियों के चरित्रों को सुनकर कुछ धैर्य धारण करो। देखो मैं आपसे अधिक नहीं जानती हूं। आपने ही मुझे पढ़ाया है। भला उस दिन आपने मुझे रोती हुई को जो वाक्य कहे थे ? वे ही आज इस समय याद कीजिए।

मृगांकलेखा – (सोचती हैं, कुछ देर बाद) मुझे तो नहीं याद है। क्या कहा था मैंने ?

चित्रलेखा – आपने कहा था। जब जीव के अशुभ कर्म उदय में आते हैं। तब उसे दुःख होता है। और जब शुभकर्म का उदय होता है। तब सुख। दिनके पीछे रात और रात के पीछे दिन की तरह जावन में सुख और दुःख दोनों ही आते हैं और जाते हैं। विवेकी व्यकित को सुख में अतिशय हर्ष भी न मनाना चाहिए और दुःख आने पर अतिशय दिलगीर भी नहीं होना चाहिए। अब शोक छोड़कर हमसे बातें करो।

मृगांकलेखा – सखि ! तुमने जो कहा वह सत्य है। परंतु क्या करूं ? (गाती है) –

"मोरी आलीरी कैसे धरूं मैं धीर ? मेरी ! धड़कत छातिया, तड़फत कटियां।
सारी रतियां मैं नैनों बहाबत नीर, मोरी आलारी कैसे धरूं धीर।"

सखि ! यह बीन बड़ी बेसुरी बजाती है। जाने दो। देखो सखि ! आर्य ने मेरा तिरस्कार कितना किया है। है कुछ उसका ठिकाना, वह मैंने सबके सामने सहा। उस समय मेरा हृदय पत्थर से भी अधिक कठोर हो गया। खैर हुआ सो हुआ, परंतु अब उनके वियोगानल से मेरे शरीर में अग्नि की ज्वाला धधकने लगी – यह मेरे कैसे पाप कर्म की गति है ? (रोती हुई गाती हैं) –

"बिना नाथ कैसे करी अन्न भावे, गए जान पै जान, पापी न जावे।
हृदय मैं अब धीर केसे धरै री, गति कर्म की हाय रे हाय।"

(और अत्यंत विलाप करती है) स्वामीनाथ ! मुझे......जरा भी आभास नहीं हुआ था, कि बर्फीली आंधी भी मेरे जीवन में आनेवाली है। जो वसंत को हमेशा के लिए मुझसे छीन लेगी, दुष्ट दैवी। पर... अब क्या दुःख किया जाय ? अब क्या करूं ? जिदंगी अब तो ऐसे रास्ते पर चल रही है, जिसकी कोई मंजिल नहीं, हर अरमान पर कफन डाल दिया है.......स्वामीनाथ आपने मेरे जीवन की खुशियों को तबाह कर दिया। आंखों में आये हुए आंसुओं को रोकने का प्रयास कर रही थी वह.....सारे ही अरमान आंसू बनकर रह गये। तकदीर में तबाही और बरवादी के अध्याय ही लिखें हैं। इन्सान. ......सारे जहां से लड़ सकता है, मगर....अपने तकदीर से नहीं लड़ सकता है। मेरी तकदीर में यही लिखा है। चित्रलेखा ने कहा सखि क्या विचार करती हो ? वह एकदम चौंकी....वह...क्या उसके दिमाग का फ्यूज उड़ गया.....खुशियों की दीवारे.....एक–२ करके गिरती जा रही थी। यह क्या.....उसका दिल फटा जा रहा था। उसकी आंखों से गंगा यमुना एक साथ....बह निकली। और आंसू उसकी सुहागसेज की गोद में गिर कर लुप्त हो गये। उसने अपनी

आंखों से बहते आंसुओं को पोंछा। स्वामीनाथ ! नारी के सारे अरमान टूटते हुए दिखाई दे तो उसके उपर क्या गुजरती है ? उसके दिल पर......प्राणेश शादी के पहले कितने अरमान......कितने सपने अपने दिल में सजाती है। एक युवती.....जब अपने बाबुल का घर छोड़ती है......तब मैं भी न जाने कितने सारे सपने देखे थे। बहुत खुश थी मैं.......मगर आपने अपने सपने दिखाकर.....मेरे सारे सपने चकनाचूर कर दिये....ऐसा क्यों किया आपने ? किस जन्म की सजा दी आपने......की शादी होते ही मेरा त्याग कर दिया।

दुनियां में आये हैं............तो जीना ही पड़ेगा।
जीवन है अगर जहर.........तो पीना ही पड़ेगा।
गिर गिर के मुसिबत में.....संभल कर ही रहेंगे।
जल जायें मगर आग पर.........चलते ही रहेंगे।

पांचवा दृश्य

(स्थान – नदी का किनारा, सागरचन्द्र का तंबू और अटवी, उजाड़ वन में झाड़ी)

धनमित्र – मित्र ! देखिये ! बड़े आश्चर्य की बात है। जब ये सूर्य पूर्व दिशा में उदय होता है तब लोग इसको प्रणाम करते हैं। परंतु पश्चिम में अस्त होते हुए सूर्य को कोई भी प्रणाम (नमस्कार) नहीं करते। बड़े खेद की बात है कि संसार में नित्य सुखी कोई भी नहीं रहता। जिसने जगत में अपने तेज–प्रकाश से समस्त जीवों पर उपकार किया। उन्हें सुखी किया। वे ही जगतवासी जीव इस समय अपने उपकारियों के उपकार को भूलाकर कैसा आनंद मना रहा है। अरे रे उन कृतघ्नों का कहाँ भला होगा ? हे दिवानाथ !

आपको धन्य हैं। जिन पर आपने उपकार किया वे आपकी पड़ती दशा को देखकर कुछ दया दृष्टि धारण करने के बदले। अपनी प्रियतमा के मस्त में आपकी तरफ देखकर हँस रहे हैं। हाय हाय। यह कैसी करुणाजनक स्थिति ! परंतु फिर भी उन पर आपकी पहले से अधिक कृपादृष्टि। बलिहारी। धन्य हैं आपको।

सागरचन्द्र – तुम क्या कह गए ? मैं तो कुछ भी नहीं समझा।

धनमित्र – क्यों समझना था ? मैं कहता हूँ। सूर्य भगवान बड़े दयालू हैं। देखो (पश्चिम में सूर्य को अस्त होते हुए अपने हाथ के इशारे से बताता है)

विरही जनके ताप को, निरखि भूरि दया दिल आ गई।
चल दिए निज रश्मि बटोरिके, भवन को भगवन् दिवाकरुं।।

सागरचन्द्र – अच्छा ऐसा है ! मैं तो समझता हूं कि रुप रमणी रजनी यानी नवीन प्रियतम सुधाकर (चंद्रमा) के साथ क्रीड़ा की इच्छा से लज्जा के मारे गगन मंडल के रुपमहल में प्रकाश करने वाले सूर्य दीपक को बुझाकर काले रंग की साड़ी पहनती हुई सज रही थी।

धनमित्र – यूं ही सही ! परंतु इधर तो देखो ! उस छोटे से सरोवर में उन कमलनियों की क्या हालत हो रही है ?

सागरचन्द्र – हालत क्या होनी थी ? सूर्य के अस्त होने से ये कुमला गई हैं। प्रातःकाल में जब सूर्य उदय होगा तब फिर खिल उठेंगी।

धनमित्र – नहीं नहीं ! ये बात नहीं है।

सागरचन्द्र – तो क्या बात है ?

धनमित्र – भाई साहेब ! पति के वियोग से म्लान मुखारविन्द वाली नयनदल को मींचकर नवोढ़ा नलिनी रुदन कर रही है। क्या आपको उसके रोने की आवाज़ नहीं आ रही है ?

सागरचन्द्र – मुझे तो नहीं सुनाई देती है, रोने की आवाज।

धनमित्र – ज़रा ध्यान लगाकर सुनिएगा।

सागरचन्द्र – (खूब ध्यान लगाकर सुनता है) नहीं भाई नहीं मुझे कुछ नही सुनाई देती। बिल्कुल.........।

धनमित्र – जरा आप अपने हृदय को कोमल बनाईए। इसके रोने का शब्द कठिन हृदय वाले नहीं सुन सकते। मुझे तो इसके रोने की आवाज बराबर आ रही है।

सागरचन्द्र – आपने कैसे समझा कि मेरा हृदय कठिन है।

धनमित्र – जब आप किसी के रुदन को सुन नहीं सकते हो तो कठिन नहीं तो फिर क्या कोमल है ? आपका हृदय तो बड़ा कठोर है। देखिये जरा। ध्यान पूर्वक सुनिये यह भ्रमर ध्वनि तो सुनाई देती है ?

सागरचन्द्र – हाँ हाँ सुनाई देती है।

धनमित्र – बस यही तो नलनियों को रोना है। भ्रमर ध्वनि का तो एक ब्याज बहाना है।

सागरचन्द्र – ये सभी बातें बनावटी है।

धनमित्र – तो असली बात क्या है ? जरा आप ही वर्णन कर बताईए।

सागरचन्द्र – रात पड़ गई तंबू में जाकर सो जाओं। प्रातःकाल में प्रयाण करना होगा।

धनमित्र – मेरी आदत तो आप जानते ही हो कि जब तक प्रहर रात व्यतीत न हो तब तक मुझे नींद नहीं आती है। आप भले सो जाओ नहीं बैठना चाहते हो तो आपकी मर्जी, मैं तो इस दीपक के पास बैठकर पढ़ूंगा।

सागरचन्द्र – (खुशी से खड़ा होकर) परंतु देखना इस दीपक के पास एक नही सैकड़ों विद्यार्थी आते हैं, हो सके इनसे भी कुछ पढ़कर सीखना।

धनमित्र – पधारिए ! पधारिए ! आप अपने इस परोपदेशे पांडित्य को साथ ही लेते जाईए (जनार्दन से) अरे ओ जनार्दन ! सागरचन्द्र तंबू में जाकर सो रहे हैं उनके पास दीपक मत रखना कहीं दीपक के विद्यार्थीयों से गुण ग्रहण करते–२ सेठजी की नींद खराब हो जायेगी।

जनार्दन – आप क्या कहते हैं मेरी तो समझ में नहीं आ रहा है।

धनमित्र – तेरी समझ में क्या आयेगा ? तूं हमेशा छाया की तरह साथ रहने वाला नहीं समझेगा। ठीक है तेरा नहीं समझना ही ठीक हैं वाह दीपक के विद्यार्थी को तु नहीं जानता है। पतंगिए ! इन्होंने उन पतंगियों से बहुत कुछ सीखा है। इसलिए मुझे भी उनसे सिखने का कह रहे हैं। किसी समय इनका भी हृदय पतंगियों के समान आचरण करता था। परंतु जब से आप दीपक के पास बैठे, तब से आप में दीपक के गुण आ गये। जैसे हजारों लाखों पतंगिए विद्यार्थी प्रेमी दीपक में आकर अपने प्राणों को होम देते हैं। परंतु दीपक महाशय का हृदय कैसा वज्र के समान...... हाय हाय। अब आगे कुछ नहीं कहता। तुम इनके पास ही रहना अब मैं जाता हूँ।

जन्नार्दन – महाराज ! आप तो बहुत ही बहकी हुई बातें करते हो।
धनमित्र – (हँसकर) तभी तो कहता हूँ कि दीपक को इनके पास न रखना (धनमित्र जाता है)
सागरचन्द्र – जनार्दन ! जाओ तुम भी अब सो जाओ। अब मैं भी आराम करूंगा।
जनार्दन – जी ! बहुत अच्छा। (प्रणाम करके आज्ञा लेता है, और जाता है)
सागरचन्द्र – शय्या में लेटा लेटा (स्वगत) ओहो ! प्रहर रात्री से भी अधिक रात बीत गई। परंतु न जाने नींद क्यों नहीं आती है। (किसी के रोने की आवाज सुनकर) यह तो किसी के रोने की आवाज है। (ध्यान लगाकर सुनता है) फिर आवाज आती है। हाय हाय। यह कैसी दुःख भरी आवाज आ रही है। हों न हो यह तो स्त्री रुदन है। न जाने यह किस संकट में है। चलूं और देखूं तो सही। कौन है ? (हाथ में तलवार लेकर अकेला ही तंबू से बाहर निकलता है, फिर वैसे ही शब्द सुनाई देता है) अरे रे यह तो कोई नजदीक ही में रुदन करती मालूम होती है। (झपटकर उसी तरफ जाकर एक झाड़ी में रोती हुई स्त्री को देखकर) भद्रे ! तू कौन है? और क्यों रोती है ? (स्वगत) क्या ये कोई राजकन्या है ? या देवांगना है, क्या विद्याधरी है। अंधेरी रात होने पर भी इसके आभूषणों का प्रकाश शरीर की शोभा दिखा कर चन्द्रमा और तारों का काम कर रहा है। यह किसी के विरह से विकल होकर बार–२ मूर्छा को प्राप्त होती है। (प्रगट) भद्रे ! सच कह । क्या नाम है तेरा? और किसलिए ऐसी अवस्था को प्राप्त हुई है ? डर मत। अपने दुःखों का कारण मुझे शीघ्र ही कह। ऐसी भयानक आधी

रात का समय आखिर यह क्या बात है।

विद्याधरी – (सागरचन्द्र की तरफ देखकर) भाई आप अपनी राह लो। मेरी अवस्था पूछकर क्या करोगे ? मुझे ऐसा कोई नजर नहीं आता है। जो मेरा दुःख दर्द दूर करे।

सागरचन्द्र – आहो ! बहन ! पहले तूं अपना दुःख तो बता ? पीछे उस दुःख को दूर करने वाला कोई है। या नहीं ? इसकी बात करना। तेरी यह दशा देखकर मेरा हृदय काँप रहा है। तेरी यह दुःख भरी अवस्था मुझे असह्य हो रही है। तेरा दुःख मुझसे देखा नहीं जा रहा है।

विद्याधरी – बांधव ! दुनियां भर में मुझे कोई ऐसा सज्जन नजर नहीं आता कि, जिसके आगे मैं अपने हृदय की बाते कहूँ। क्योंकि जिसने कभी दुःख न देखा हो, या जो दुःखी के दुःख को दूर करने में समर्थ न हो, अथवा दुःखी प्राणी को देखकर, जिसके हृदय में करुणा नहीं हो, दया उत्पन्न नहीं होती है। उसके सामने अपना दुःखड़ा रोना व्यर्थ है।

सागरचन्द्र – भद्रे ! तेरी इस दुःख भरी अवस्था को देखकर मुझे कितनां दुःख हो रहा है। वह मैं जानता हूं या सर्वज्ञ। बहन, तेरा दुःख दूर करने के लिए मुझे यदि अपने प्राण तक भी देने पड़े तो मैं तैयार हूँ। इसलिए बिना किसी संकोच के तूं अपना दुःख मेरे सामने प्रगट कर। मैं उसके दूर करने के लिए कटीबद्ध हूँ।

विद्याधरी – यदि ऐसा हे तो सुनो ! मैं अपने दुःख की कहानी सुनाती हूँ। मेरा प्राणेश, 'हरिप्रभ' विद्याधर हैं और मेरानाम हारावली है। हम दोनों विमान में बैठे जा रहे थे। मार्ग में मेरे पति ने मुझ से कहा कि आओ आज ईशान कुँज में जो कदली गृह है, वहाँ

जाकर क्रीड़ा करें। मैंने कहा कि आज मेरुपर्वत के उपर जो उद्यान है। वहाँ क्रीड़ा करेंगे। बस इतनी ही बात, पीछे मेरे स्वामी मुझसे अप्रसन्न हो गये। वह देखो उस लतामंडप में बैठे हैं। दो पहर व्यतीत होने को आए। परंतु न तो मुझसे बोलते है, न मेरी तरफ दृष्टि करके देखते हैं। और ना ही मेरा अपराध माफ करते हैं। मैं बहुतरा से मना रही हूँ। परंतु एक भी मेरी नहीं मानते हैं। इस कारण इनके वियोग से मेरी यह अवस्था हुई है। यह दो पहर मुझे दो युग के समान लग रहे हैं। हाय, मैं क्या करुं ? कहाँ जाऊँ ? किससे कहूँ ? मेरे पति का हृदय इस समय बज्र से भी अधिक कठोर हो रहा है। (रोती हुई गाती है)

मैं वियोगिनी वन विषे, कहाँ तक सहूँ वियोग।
मैं वियोगिनी मोहे माफकर, लावों सुख संयोग।
झुर झुर मरुं एकली, स्वामी करो विचार।
प्राणनाथ मोहे माफकर, दिलको करो उदार।।
अरे प्राण कुछ तो सुनो, यूं क्यूं बने करुर।
करके दया करो न, हमको अपने से दूर।।

हाय रे कैसे मनाऊँ ? मैं तो सब तरह से हार गई (और फिर रोती है)

सागरचन्द्र – भद्रे ! रुदन मत करो, बता मुझे कहाँ है तेरा पति?

विद्याधरी – उस लता कुँज में।

सागरचन्द्र – (नजदीक में जाकर) भद्र ! क्या 'हरिप्रभ !

विद्याधर – हाँ ! कहो क्या काम है ?

सागरचन्द्र – क्या यह तुझे योग्य है ? देख तो सही वह तेरे वियोग से जलरहित मछली की तरह तड़प रही है। तुझे कुछ भी दया नहीं आती है ? अपनी प्रियतमा को इस प्रकार दुःखी करके,

तुझे क्या मिलेगा ? ऐसे कठोर हृदय का मत बन। जा उठ और उस विलाप करती हुई अबला के दुःख को दूर कर। उसका संताप न ले। जिसके दुःख से तो पत्थर भी पसीज जाय। उसको देखता हुआ तू पत्थर से भी कठोर हृदय क्यों बना रहा है ? ले चल उठ, उसके अपराध के लिए मैं तेरे चरणों में नमस्कार करके क्षमा मांगता हूँ। माफ कर बहुत हुआ।

विद्याधर – (हँसकर) अच्छा तूं मुझे मनाने आया है ? अरे तूं जरा अपनी तरफ तो देख ! पीछे दूसरे को उपदेश देना। तूं अपने कृत्य की तरफ क्यों नहीं देखता ? मेरी स्त्री के मात्र दो घड़ी के दुःख को देखकर तो तुझे इतनी दया उत्पन्न हुई। परंतु सतियों में शिरोमणी, निरापराधिनि, हाय वह एकांत तेरे में अनुरक्त भक्तिवाली 'मृगांकलेखा' जो तेरे वियोग में इक्कीस वर्ष से दुःखी हो रही है। उसे तूं ने मुँह से बुलाया तक भी नहीं। धिक् – धिक् । तूं नहीं जानता कि उसको तेरे बियोग में कितना दुःख हो रहा है ? सच है।

धने कुशल नर दीसते, पर उपदेश करंत।
जे निज वाणी अनुसरे, ते जग विरले संत।।

हाय आज उसकी दशा क्या होगी ? (इतना कहकर अपनी प्रिया को विमान में बिठाकर आकाश मार्ग में उड़ जाता है)

सागरचन्द्र – (स्वगत) हैं यह क्या ? हाय ! मुझे धिक्कार है। सौ बार धिक्कार है। धन्य है उन लोगों को जो स्त्री के सैकड़ों अपराध देखने पर भी उस पर क्रोध नहीं करते। यदि करते हैं तो पानी के लकीर के समान। जैसे पानी में लकीर खींची हुई, चिरकाल नहीं ठहरती, तत्काल ही मिट जाती है। उसी तरह

अव्वल तो सत्पुरुषों को क्रोध आता ही नहीं। यदि किसी कारण से आजाय तो तत्काल ही शांत हो जाता है। धिक्कार है। मेरी विद्या और बुद्धि पर, जो अपनी प्रियतमा 'मृगांकलेखा' को बिना किसी अपराध के मैं उसे त्याग बैठां हाय मेरी अधमता का अंत नहीं है। मुझ पाषाण हृदयी निर्विवेकी मूढ़ को धिक्कार है। मैंने वृथा ही उस निरापराधिनि को २१ वर्ष पर्यंत संताप दिया। हाय, अब क्या करुं। उससे कैसे जाकर मिलूँ। (एकाएक स्त्री को सामने देखकर) अरे तूं कौन है ?

स्त्री – (हाथ जोड़कर) महाराज ! मैं विद्याधरी 'हारावली' की चेटी हूँ। उसने मुझे जड़ियां देकर आपके पास भेजा है।

सागरचन्द्र – (हाथ में जड़ी लेकर) यह जड़ियां क्यों भेजी हैं ? इनमें क्या गुण है ?

स्त्री – महाराज ! उन्होंने मुझे कहा कि यह देकर उनसे कहना कि, आपने मेरे उपर जो उपकार किया है। उसका बदला मैं नहीं दे सकती। तो भी मेरी इस कृतज्ञ रुप दो जड़ियों को तो आप अवश्य ही स्वीकार कीजिए।

सागरचन्द्र – (जड़ियों को उलट पुलट कर देखता हुआ) भद्रे ! यह तो ठीक, परंतु इन जड़ियों में गुण क्या है ? यह किस काम आएगी ?

स्त्री – महाराज ! इस एक जड़ी में तो यह गुण है कि यदि उसको घिसकर पैर में लेप किया जाय तो वह पुरुष लेप के प्रताप से आकाश में उड़ सकता है। और दूसरी को घिसकर अपने मस्तक में तिलक लगाने से रुप का परावर्तन (बदलना) हो जाता है। इतना कहकर चेटी अदृश्य हो जाती है। (सागरचन्द्र तंबू में आकर

सोते हुए धनमित्र को हाथ से हिलाता है)

धनमित्र – (चौंककर) क्यों कौन है ?

सागरचन्द्र – मैं सागरचन्द्र हूँ ।

धनमित्र – कहिए कुशल तो है ? (शय्या से उठ खड़ा होता है)

सागरचन्द्र – मित्र ! मेरे साथ तो इस प्रकार की बात बनी। (सारा दास्तान सुनाता है)

धनमित्र – मित्र ! कहिए अब आपका क्या विचार है ?

सागरचन्द्र – मित्र ! विचार क्या है। (आह भरकर) मेरे जैसा अधम जगत में कोई नहीं होगा। मैं बड़ा पापी हूँ। अब मैं उसके पास अपने पाप की माफी लेना चाहता हूँ। मित्र ! मेरे बिना उसने २१ वर्ष किस अवस्था में व्यतीत किये होंगे ? मेरे चले आने पर आज उसकी क्या दशा हुई होगी ? बस मित्र ! अब तो यही जी कर रहा है कि इस जड़ी बुटि के प्रताप से चलकर उसे एकबार मिल आऊँ।

धनमित्र – बहुत अच्छा ! यह आपने बहुत ही अच्छा सोचा। चलिए शीघ्र चलिए। देर न कीजिए। आपके पुण्य का ही उदय समझिए कि जो वह इतने समय तक जीवित रही। बस अभी जाकर उस लता को मेघ के समान हरी भरी करो। ऐसा न हो कि वह प्राण खो बैठे।

(विद्याधरी की दी हुई जड़ी के प्रताप से पैरों में लेप करके दोनों उड़कर मृगांकलेखा के शयन गृह के बाहर पहुँचे)

तीसरा अंक

पहला दृश्य

(मृगांकलेखा का शयन गृह – धनमित्र और सागरचन्द्र शयन गृह में मुँह डालकर दोनों अंदर झांकते हैं)

धनमित्र – अरे रे मित्र ! देखो क्या अवस्था हो रही है, पानी के बिना मछली की तरह तड़प रही है। आपका ही नाम रटती हुई, कुछ का कुछ बोल रही है।

सागरचन्द्र – बेशक मैं देख रहा हूं। उसकी वैसी ही अवस्था है, जैसी तुम कहते हो।

धनमित्र – वह देखो चित्रलेखा ने उसका सिर अपने गोद में लिया है। वह आश्वासन दे रही है।

चित्रलेखा – सखि ! क्या विचारती हो। बड़ी मुश्किल से मृगांकलेखा इतना हो बोल पाई थी। हृदय की असीम पीड़ा को सहना.....पीड़ा को पीना.......सरल कहां होता है। चारपाई पर लेटी मृगांकलेखा खाली नजरों से छत की ओर देख रही थी। उसका मस्तिक विचारों में उलझा हुआ था। सहसा आह छोड़ती हुई मृगांकलेखा ने करवट बदली। उसकी निगाहें दीपशिखा में जल रहे दरपक पर पड़ी। मृगांकलेखा के आँखों में आँसू उमड़ आये। उसकी सोचें भटक गई। उसका मन बड़ी ही निराशा का अनुभव करने लगा। मन तड़प उठा और वह बेचैन हो गई। अपनी तुलना वह श्मा से करने लगी। मैं....मैं....मैं... भी तो जल रही हूँ....२१ वर्ष से लेकिन मेरा जलना कितना......सार्थक है। मन ही मन में बड़बड़ाई। मृगांकलेखा के आँसू धाराओं की शक्ल में उसके गालों पर फिसलने लगे। चित्रलेखा आश्वासन देती है। लेकिन यह तसल्ली

झूठी है। ऐसे ही जैसे मौत के शय्या पर पड़े किसी मरीज को कोई नव जीवन का झूठा दिलासा दे...दे। अगर उसके किस्मत अच्छी होती तो, सोचते–२ उसके आँखों से आँसू बह निकले, परंतु किस्मत को कुछ और ही मंजूर है। जिसकी मैंने सपने में भी कल्पना नहीं की थी। ऐसे नीतिवान! न्यायप्रिय धर्मचाहक प्राणेश क्यों मुझसे विमुख हुए ? आपने मेरी मंजिल को नीचे खाई में पटक दिया। आँसूओं ने आज नदी का रुप धारण कर लिया था। मृगांकलेखा की आंखों

ऐसी आंसू भरी ये जिन्दगी किसी को न दे।
खुशी के बाद गम बेबसी किसी को न दे।।
उदास दिल कर तमन्ना है, अश्कवार हूं मैं।
उदासी जिस पर हँसे, वा हँसी किसी को न दे।।
उड़ालों तुम भी हँसी, मेरी जिन्दगानी पर।
सजा जो दी है मुझे, वो सजा किसी को न दे।।

यह सिसकति लम्हों पर बहते आँसू कभी नहीं रुकते थे। आखिर वो भी एक नारी थी। नारी को ममता की मूरत कहा जाता है। वह कैसे अपने सीने पर दुःख के पत्थर को सह सकती ?

सागरचन्द्र – (अधीर होकर) मित्र ! मैं इसकी इस विरह वेदना को अब एक पल भर भी नहीं देख सकता हूँ। परंतु मैं एकदम अंदर नहीं जाना चाहता हूँ। तुम आगे–२ चलो।

धनमित्र – अच्छा मैं आगे चलता हूँ। (दोनों प्रवेश करते हैं)

मृगांकलेखा – (धनमित्र को न पहचान कर) अरे तूं कौन है। कहाँ से और क्यों अंदर आ रहा है। क्या कहीं तेरे उपर काल तो कुपित नहीं हुआ। क्या नहीं जानता कि यह 'आर्य' सागरचन्द्र' का महल

है। अरे धूर्त। निकल जा जल्दी यहां से, याद रख यहां सिवाय सागरचन्द्र के, देवता भी प्रवेश करने को समर्थ नहीं है। बस जिन पैरों आया है। वैसा ही वापिस चला जा। निकल जा शीघ्र बाहर नहीं तो, मेरे शील के प्रभाव से अग्नि में सुखी लकड़ियों की तरह जलकर भस्म हो जायेगा। (चित्रलेखा से) सखि ! देखती क्या है। इसे धक्का देकर बाहर निकाल।

धनमित्र – सति शिरोमणी ! धन्य हैं। तुझे बहन। स्वस्थ हो मुझे पहचान। देख मैं धनमित्र हूँ। सागरचन्द्र का मित्र। मैं सागरचन्द्र के आने की बधाई देने आया हूँ। बस छोड़ दे इस शोक संताप को। उठकर बैठ जाओ। सागरचन्द्र पीछे–२ आता है।

मृगांकलेखा – धनमित्र को पहचान कर। बस इस उपहास से अलम्। वे तो ! महाराज के सैन्य के साथ गए हुए हैं। सच–२ बताओ आखिर क्या बात है ? क्यों सताते हो मुझे।

धनमित्र – सति शिरोमणी ! मैं सच कहता हूँ। मैं आपको बधाई दे रहा हूँ। सताता नहीं हूँ।

मृगांकलेखा – सागरचन्द्र को देखकर, एकदम शय्या से उठकर आदर देने के लिए आगे बढ़ती है। और चरणों में गिरने लगती है।

सागरचन्द्र – प्रिये ! ठहर मेरे लिए कष्ट न उठा। आंखों में आंसू लाकर प्रिये ! मैंने बिना विचारे तुझे बहुत ही संताप दिया, तेरा कोई भी अपराध नहीं है। तुं निरापराधी है, निष्कलंक है, मैंने तुझे बहुत ही दुःख दिया। बहुत ही दुःखी किया है। मैं, अपने इस अपराध की क्षमा चाहता हूँ। जैसे कोई पुरुष विद्या को पढ़कर उसे भुला देवे। उसी तरह मैंने भी शादी कर तुझे भुल गया। छोड़ दिया। प्रिये ! तूं भी मेरे इस अधम अपराध को भूल जा। और मेरे

साथ प्रेम से वर्तालाप कर।
मृगांकलेखा – पैरों में पड़कर, 'नाथ' आप यह क्या कहते हो। क्षमा कीजिए। बस अब ऐसे शब्द उच्चारण न कीजिए। स्वामिन् ! आपका कुछ भी दोष नहीं है। यह तो मेरे ही किये हुए पूर्वकृत कर्मों का दोष था। वह मैंने भोगा। इसमें आप तो निमित बने। आपका कोई दोष नहीं है। स्वामिन् आप खेद मत कीजिए। सागरचन्द्र दोनों हाथों से उठाकर स्नेह से आसन पर बिठाता है।
धनमित्र – अच्छा सागरचन्द्र मैं जाता हूँ। और दोनों सहेलियां भी इधर उधर हो जाती है।
सागरचन्द्र – स्नेहपूर्वक मृगांकलेखा को कहता है। लेखा ! मैं कितना पापी हूँ कि निष्कारण ही बिना सोचे विचारे ही तुझे दुःख में धकेल दिया। तेरे अरमान को चूर–चूर कर दिये। सारा आशियाना ही उजाड़ दिया। प्रिये मुझे बहुत ही दुःख हो रहा है।
मृगांकलेखा – पति के मुँह के आगे हाथ करके। बस नाथ ! मैं आपसे प्रार्थना करती हूँ कि, अब आप ये शब्द न निकालिए। फिर आनंदपूर्वक भोग विलास में रात्री व्यतीत करते हैं।
सागरचन्द्र – प्रिये ! लो प्रातःकाल हो गया है। मुझे सूर्योदय के पहले ही सैन्य में पहुँचना है। यदि प्रयाण के समय में, वहाँ पर राजा मुझे न देखेंगे तो, स्वछंदाचारी कहेगा। इसलिए अब तूं मुझे वहाँ जाने की आज्ञा दे।
मृगांकलेखा – सागरचन्द्र के मुँह के सामने देखती हुई। नाथ ! कह कर आँखों में आँसू भरती है।
सागरचन्द्र – हाथ पकड़कर, हैं हैं। यह क्या ? उदास मत हो। मैं शीघ्र ही आऊँगा।

मृगांकलेखा – हे प्रिय ! यदि मैं तुम्हें जाने से रोकती हूं, तो यह बड़ा ही अशुभ होगा। उधर यदि कहती हूं कि जाइये, तो प्रेमभाव को ठेस पहुंचती है। यदि कहती हूं कि न जाओ तो तुम्हारी और प्रेम की प्रभुता घटती है। उधर विदाई के समय कुछ भी नहीं कहा तो। स्नेह पर आँच आएगी। यदि यह कहूं कि आपकी इस प्रस्थान वेला में, तुम्हें विदाई दी जाये, आप ही मुझे समझाइये। हे प्रियतम! किसी कवि ने प्रेम–विवश आँखों का बड़ा ही मार्मिक भाव–भीना वर्णन किया है। हे प्रिय मेरी आंखें सदा प्रिय के साथ लगी डोलेगी। उसके बिना कभी एक पल के लिए भी धीरज नहीं धरती। एक क्षण का वियोग ही उनके लिए प्रलय का सा दृश्य उत्पन्न कर देता है। प्रिय के वियोग में ये आँखें पलकों में न तो टिक ही पाती है। और न पलकों को झपक ही पाती है। हे प्रियतम! तुम्हें देखे बिना ये आंखें दुःखिया हो जाती है। और दर्शन बिना रह नहीं पाती। अर्थात् आंखों का सुख–चैन तुम्हारे दर्शन में ही है। ज्यादा क्या कहूँ ? स्वामी !

मृगांकलेखा – भले आप जाते हैं तो जाइए। शासन देवी से मैं आपके कल्याण की याचना करती हूँ। परंतु नाथ ! मेरी एक प्रार्थना।

सागरचन्द्र – हाँ हाँ। कहो मैं उसको पूरा करुंगा।

मृगांकलेखा – (लज्जा से सिर नीचे करके) स्वामिन् ! मैं ऋतुस्नाता हूँ। यदि दैव वशात् ! बोलते–२ चुप होकर प्रेमपूर्वक सामने देखती है।

सागरचन्द्र – (स्नेह पूर्वक) हाँ हाँ। आगे कहो देव वशात् यदि गर्भ रह गया तो। यही न। तो पगली इससे परे क्या चाहिए।

मृगांकलेखा – नाथ ! इस अवस्था में, मैं आपके वियोग से कैसे रहूँगी। आपकी माताजी को आज मेरे पास आपके आने का हाल तो बिल्कुल ही मालूम नहीं है। फिर ये उस हालत में मुझ पर क्या शंका करेंगी ? ऐसा न हो कहीं घर से निकालने का ही साहस कर लें। तो भी मुझे आश्चर्य नहीं है। मैं तो निर्दोष हूँ, जैसे आप मुझे नहीं बुलाते थे वैसे वे भी मुझे नहीं बुलाती हैं। उन्हें आपका मेरे पास आने का कैसे विश्वास होगा ? क्या आप नहीं जानते कि सासु और बहु का आपस में बिल्ली और चूहे के समान वैर होता है। इसलिए कृपा करके आप यहाँ आने का समाचार अपने माता पिता से कहते जाइये।

सागरचन्द्र – प्रिये ! अब उनको मिनले का समय नहीं है। तूं किसी बात की चिंता मत कर। यदि ऐसा ही काम पड़ जाए तो यह ले मेरे हाथ की अंगूठी। (उतार कर देता है) उन्हें दिखाकर विश्वास दिलाना – और कहना कि, मेरे गले का हार वे ले गये हैं। बस इतने से ही उन्हें विश्वास हो जायेगा। अब बिलम्ब करने का समय नहीं है। नहीं तो मैं उनसे मिलकर जाता, ला यह अपने गले का हार मुझे दे। (मृगांकलेखा के गले का हार लेकर अपने गले में पहनता है)

मृगांकलेखा – (पैरों में पड़कर) नाथ ! इस अनुचरी को आपका ही आधार है। देखना भुला ना देना ?

सागरचन्द्र – (उठाकर छाती से लगाकर) प्रिये ! तूं यह क्या कहती है ? बस लो बैठो। मैं जाता हूँ। (आकाश मार्ग से उड़ जाता है)

मृगांकलेखा – (स्वगत) हे शासन देवता मेरे प्राणेश की रक्षा करो। (दोनों सखियां अंदर प्रवेश करती हैं। और मृगांकलेखा के गले में

हाथ डालकर खुश होती हुई कुशल पूछती है) सखि मैं जिस दिन की आशा कर रही थी वह आज आर्य ने करुणा करके फलीभूत कर दी।

मृगांकलेखा – धर्म के प्रताप से क्या नहीं सिद्ध होता है। ले चल अब बातें बाद में करुंगी। सूर्योदय हो गया। पूजा की सामग्री तैयार कर (मृगांकलेखा भाव युक्त भगवान की पूजा करके धर्म आराधना में आनंदमय समय व्यतीत करती थी। और इस प्रकार सखियों के साथ हास्य विनोद करते धर्म कथा आदि करते–२ पांच (५) महीने व्यतीत हुए। पांचवें महिने में मृगांकलेखा को सासू ने देखा)।

पद्मावती – (आँखें फाड़कर) हाय, हाय! अरे पापिनी यह क्या। अरे दुष्टे। यह मैं क्या देख रही हूँ। (नजदीक में जाकर लंबा हाथ करके) अरी यह पेट। हाय, हाय। गजब हो गया। चंद्रमा के समान इस कुल को कलंकित करने वाला यह गर्भ कहाँ से धारण किया? (उंचे से जोर–२ से चिल्लाती है, और माथे को पीटती है। घर में शोर मचा दिया और बहू को गालियाँ देने लगी) बेशर्मी, ये गलत कार्य कहाँ करके आई। (इतने में सागरदत्त सेठ प्रवेश करता है, और अपनी पत्नि पद्मावती से) हैं हैं क्या हुआ ? क्यों चिल्लाती है। यह कैसी हाय, हाय। (हाथ से पकड़कर मृगांकलेखा का पेट बताती है) हुआ जो नहीं होना चाहिए था।

सागरदत्त – परंतु कुछ बता तो सही। जरा धीरज धर, शांति से कह कि क्या हुआ। मुझे मालूम तो हो। ऐसी क्या आफत आ गई। जो रो रही है। बता क्या हुआ ?

पद्मावती – आफत ! यदि आफत आ जाती तो अच्छा था। किनारे

ले जाकर कुल कलंकिनी बहु ने तो हमारे मुँह पर कालख फेर दी। न जानें कहाँ से गर्भ धारण किया है। अब मैं नगर में मुंह दिखाने लायक नहीं रही हूँ। हाय मैं तो मर चुकी। अब मैं क्या करुं। कहाँ जाऊँ और ऐसी बातें कैसै करुं।

सागरदत्त – चौंककर ! हैं क्या ऐसी बात है ?

पद्मावती – हैं क्या ? सिर पिटकर फैल मचाती है, और जोर–२ से रोती है।

सागरदत्त – (हाथ पकड़कर) प्रिये ! ऐसा क्यों करती है। इस तरह करने से रोने से आखिर क्या होगा। अब तो प्रिये तूं धीरज से ऐसा कार्य कर कि जिससे अपने इस घर की इज्जत व आबरु आबाद रहे। और कोई ऐसा उपाय कर कि जिससे सर्प भी न मरे और लाठी भी न टूटे। प्रिय तूं इतनी अधीर मत बन मेरा तो हृदय ही फट रहा है। ऐसी बातें सुनकर। (और खामोश होकर बैठ जाता है)

पद्मावती – अगर अपनी आबरु रखनी हो तो तत्काल इसे घर से निकाल दो।

सागरदत्त – तुझे अखतियार है। जैसा योग्य लगे वैसा कर, इस बात में तुझे मैं पूर्ण स्वतंत्रता देता हूँ। इसमें मुझे कोई बात के लिए पूछने की आवश्यकता नहीं है।

पद्मावती – (पति आज्ञा पाकर मृगांकलेखा के पास आकर) अरे पापिनी दुष्टे। उभयकुल कलंकिनी सच बता। तुं ने यह न देखने लायक पेट कहाँ से लायी है। (बढ़ाया)

मृगांकलेखा – (हाथ जोड़कर) माता जी ! आप जरा शांति धारण कीजिए, और मैं जो निवेदन करती हूं। आप उसे कृपया ध्यान

देकर सुनो।

पद्मावती – (क्रोध में आग बबूला होकर, इधर उधर घूमती हुई मृगांकलेखा के मुंह के सामने हाथ लम्बाकर के) ये शांति धारण कराने के लक्षण तो देखो। मैं, सब जानती हूं ये तेरा विनय, रहने दे। इसे निवेदन फिवेदन को और सच–२ बता ये काला कार्य तूं कहां पर करके आई। मैं तेरी एक भी बात सत्य नहीं मानती हूं।

(मृगांकलेखा चुपचाप खड़ी–२ रोती है)

पद्मावती – अरि देख चुड़ैल ! मेरा पुत्र सैन्य में गया है। तूं मेरे घर में आंसू बहायेगी तो खबरदार है। हे शासन देव मेरे पुत्र की रक्षा करना।

मृगांकलेखा – (पैरों में पड़कर) माताजी ! आप मेरी बात तो सुनलो। पीछे मानना न मानना यह आपकी खुशी। मैं आपसे सत्य बात निवेदन (कहती) करती हूँ।

पद्मावती – (पैरों से ठोकर मारकर) चल परे हट। पापे तुं मुझे मत छू। सुना क्या सुनाती है। (पास में पड़े एक सुखासन पर बैठ जाती है)

मृगांकलेखा – माँजी साहब ! मैं आपके सामने सत्य कहती हूं कि, जिस दिन आर्य सैन्य में गये, उसि रात्रि में वे अपने मित्र के साथ मेरे यहाँ आये थे। उनके मित्र तो उसी समय चले गये थे। और वे मेरे यहां सारी रात व्यतीत करके प्रातःकाल गये थे। यदि ये बात आप सत्य न मानें तो यह लीजिए उनके हाथ की अंगूठी। देखिये ! पहचान लीजिए। और वे आप मेरे गले का हार ले गये और अपनी निशानी यह मुझे दे गए हैं। (अंगूठी निकाल कर देती है) मांजी मैंने आपको सत्य हकीकत बता दी है।

पद्मावती – (कड़क कर) २१ वर्ष तक तो मेरे पुत्र ने तेरा मुंह नहीं देखा। और वो तुझे सैन्य से आधी रात को मिलने आया। दुष्टे इतना झूठ मेरे सामने बांलती है ? (अंगूठी हाथ में लेकर दांत कटकटाती हुई) अरे दुष्टे ऐसा प्रपंच भी करना जानती है। याद रख ! मैं भी तो स्त्री हूं। तूं कल की पैदा हुई मुझे चराती है। इन स्त्री चरित्रों में मैं भी विशारद हूं। पापिनी ! तेरी बात तो तब मानूं जो मैं अपने पुत्र के स्वभाव को न जानती होऊँ। कुलटे ! बसकर तेरा ये प्रपंच, नहीं चलेगा मेरे पास। अरे, गजब गजब कैसी चुड़ैल मिली है ? वह मेरा सागरचन्द्र, जो इसको नजर भर के भी नहीं देखता। वह इस चुड़ैल के पास आधी रात को मिलने आया। और सारी रात रहा। अरी झूठ बोलते तेरे हुंह में कीड़े क्यों नहीं पड़ जाते हैं ? मेरे पुत्र को कलंकित करती है। मेरा पुत्र ऐसा व्यभिचारी नहीं है कि आधी रात तेरे पास आये।

मृगांकलेखा – (हाथ जोड़कर) माता जी ! आप चाहे कुछ समझे परंतु.......!

पद्मावती – (डपटकर) चुप ! परंतु परंतु क्या ? परंतु......बस कर अपना बकंवास मैं तेरी एक न मानूंगी, और न ही सुनूंगी। अब तूं मेरे घर से निकल जा। चुपचाप अपना काला मुंह करके। निकल जा यहां से। एक मिनट भी अपने घर में नहीं रखूंगी। तुझे दुष्ट, हाय, हाय, जो चिंतवन करने योग्य नहीं, ऐसा कार्य नार्य हृदया कर बैठती है। धिक्कार है तुझे हजार बार – बस अब विलम्ब मत कर निकल मेरे घर से, जा रंभा के घर, वही तुझ दंभा को जगा देगी। दासी से अरे ! किधर है तूं – निकाल इस बहू को। (धक्के लगाकर) इस पापिनी का मुंह देखना भी पाप लगता है। (और वहां

से बाहर निकल जाती है। मृगांकलेखा आंखों से आंसू बहाती हुई घर से निकलती है। पीछे उसकी दोनों सहेलियां भी रोती–२ निकल जाती है)

दूसरा दृश्य

(स्थान – मृगांकलेखा के पिता, धनसार सेठ की हवेली – पद्मावती की दासी का प्रवेश)

दासी – (रंभा को देखकर) सेठानीजी मैं आपके पैरों पड़ती हूँ।

रंभा – दूधों नहा, पूतों फल। जनम सुहागन हो। कहो कैसै आना हुआ।

दासी – पद्मावती – सेठानीजी ने मुझे भेजा है।

रंभा – क्यों ?

दासी – क्यों क्या ? आपकी 'मृगांकलेखा' आपके घर आती है।

रंभा – तो फिर बड़ी खुशी की बात है।

दासी – अगर बड़ी खुशी की बात होती तो, फिर कहना ही क्या था।

रंभा – (चमककर) हैं तो फिर क्या बात है ?

दासी – सुनिए ! (सब बात सुनाकर जाती है। मृगांकलेखा सखि सहित प्रवेश करती है)

मृगांकलेखा – (माँ को भेटने दौड़ती है) ओ माँ.........

रंभा – (तिरस्कार पूर्वक परे धकेल कर) अरे कुलाड्गांरिके चल हट दूर हो। मुझे स्पर्श मत कर। पापिनी आई है मां को भेटने, हट जा यहां से

मृगांकलेखा – (स्तब्ध होकर स्वगत) हाय यह मेरी माता है। इसके कूख से उत्पन्न हुई मैं इसकी पुत्री हूं। मैं इनकी लाडली वही 'मृगांकलेखा' हूं। हा दैव। अब किससे कहूँ। और क्या कहूँ।

(प्रगट) माँ कृपा करके शांति के साथ मेरी बात तो सुन लो। पीछे जो आपकी मर्जी में आवे सा करना।

रंभा – (ऊँचा हाथ करके) मैं तेरी एक भी बात सुनना नहीं चाहती हूँ। तेरा अपकृत्य प्रत्यक्ष है। क्या तुझे घर में रखकर, क्या हम आपने कुल को कलंकित करें। जा निकल जा इस घर से जहाँ तेरा जी चाहे वहाँ जा। मेरे घर में तेरे लिए तनिक भी जगह नहीं है। अपना कलंकित मुंह लेके निकल जा मेरे घर को अपवित्र मत बना। जन्म ते ही क्यो न तूं मर गई। इससे अच्छा तो कुँअें में जाकर मर जाती। ऐसे अपकृत्य करके फिरते हुए तुझे कुछ लज्जा भी नहीं आती है ? और कहती है माताजी सुनो। क्या सूनूं। (मृगांकलेखा का पिता धनसार व धनंजय दोनों प्रवेश करते हैं)

मृगांकलेखा – (रोती हुई पिताजी के चरणों में गिरकर) पिताजी ! मुझे आपके सिवाय अन्य किसी का भी सहारा नहीं है। अब आपका ही शरण है। (बीच में रंभा आकर)

रंभा – नहीं नहीं। इसके रोने पर तरस करने का समय नहीं है। आप इतना तो विचार कीजिए कि यदि ऐसा होता तो अपने श्वसुर गृह सै इस क्यों निकालते ? मुझे पद्मावती ने दासी द्वारा इसकी रामलीला कहला भेजा है। इसलिए इसको अपने घर में रखना उचित नहीं होगा। क्योंकि इसकी सासु ने इसे धक्के लगाकर बाहर निकाल दिया। इसने उभय कुल को कलंकित करने वाला अपकृत्य किया है। और रोती है। हे भगवान ! ये क्या हुआ इसको कितने लाड़ प्यार से बड़ी की थी। उसका बदला इसने कैसे लिया। अपन ने इसे इतने सुसंस्कार दिये थे वे सारे संस्कार आज इसने धूल में मिला दिया। इसने आज अपने को मुंह दिखाने

लायक़ नहीं रखा। नहीं नहीं मैं इसको अपने घर में एक क्षण भी रखने के लिए तैयार नहीं हूँ।

धनंजय – (पिताजी से) पिताजी ! मैं आपको हाथ जोड़कर विनंती करता हूँ। आज आप बहन की बात का कुछ गौर से विचार करो। आप ही सोचिए। जो श्वसुर गृह से तिरस्कार करके निकाली हुई आपको अपना आधार समझकर आपके शरण में आई है। अब यहां से भी इसको धक्का दिया जाता है। तिरस्कार करते हो। यह बड़े खेद की बात है। पिताजी आप इतना तो सोचिए कि, अब आपके बिना इसका कोई नहीं आधर है। आपके बिना कौन रक्षा कर सकता है। दया कीजिए। जब तक 'सागरचन्द्र' सैन्य से वापिस न आवे तब तक, गुप्त रुप से चाहे प्रगट रुप से आप को अपने घर में रखना चाहिए। यदि आप इस समय इसकी दया न करोगे तो यह कैसे जी सकेगी। मेरी इस छोटी सी प्रार्थना पर आप ध्यान दीजिए। ऐसा न कीजिए। यदि आप इसके पिता होकर ही ऐसा करेंगे तो इस की रक्षा करने वाला कौन है ? विशेष मैं क्या कहूँ। मैं तो एक छोटा बालक हूँ, लेकिन पिताजी दया करके बहन को घर से मत निकालो। बाद में आपको पश्चाताप होगा। आप दीर्घदर्शी हो मैं छोटे मुंह बड़ी बात क्या कहूँ।

धनसार – नहीं नहीं ! मैं कुछ नहीं जानता। यह स्त्रियों का काम है। इसकी माता जाने या, यह जाने। उसे योग्य लगे वैसा करे। अपने को बीच में नहीं अडना चाहिए।

रंभा – मैं तो एक घड़ी भी अपने यहाँ न रखूंगी। रखना क्या ? इस दुष्टा को घर के आँगन में भी नहीं घुसने दूंगी।

धनंजय – (स्वगत) हाय हाय। इसका कैसे अशुभ कर्म का उदय है।

जो माता पिता का भी हृदय पत्थर हो जाता है। (आह भरकर) मैं क्या करूं। माता पिता के विरूद्ध होकर कुछ सहायता भी तो नहीं कर सकता। (मृगांकलेखा से) बहन मेरे जीवितव्य को धिक्कार है कि जो मैं इस समय तेरी कुछ भी सहायता करने को समर्थ नहीं हूँ। हाय, हाय। बहन, तेरा भाई होते हुए भी मैं तेरे लायक कुछ नहीं कर सकता हूँ। मैं तुझे अपना मुंह दिखाने लायक नहीं हूँ। मेरा हृदय फटकर दो टुकड़े भी नहीं होते। तेरे दुःख देखते हुए भी बहन। मुझे क्षमा कर, मेरे बस की बात नहीं है। अब तूं धैर्य धारण कर, आये हुए तुफान को सहन करने के लिए कटिबद्ध बन जा। बहन, शासन देव तेरी रक्षा करेगा। धर्म ही तेरा सहारा है। बहन तूं उसी की शरण ले। बहन तेरे रोम रोम में तो धर्म बसा हुआ है। तूं कर्म के फलों को अच्छी तरह जानती है। सर्व जीव कर्म वश सुख दुःख भोगते हैं। बहन २१ वर्ष पर्यंत तूं ने पति का वियोग सहा। पुण्योदय से संयोग भी हुआ। इसी प्रकार ये दुःख के दिन भी धर्म व नमस्कार महामंत्र के प्रभाव से दूर हो जायेगा। मेरे बस की बात नहीं है। (आंखों में आंसू बहाता हुआ, क्रोध के मारे एकदम घर से बाहर निकल जाता है। आज उसे अपने माता पिता के उपर बार–२ क्रोध आ रहा था। लेकिन विवश था)।

मृगांकलेखा – माँ ! कृपा करके एक बार मेरे भाई के वाक्यों पर तो जरा विचार करो।

रंभा – (क्रोध से) बस बोल मत। चुपकर। बड़ी प्यारी भाई की बहन बनी है। अपने लक्षण तो देख पहले। अब बहुत कहलाने की कोई जरुरत नहीं है। जहां तेरा जी चाहे वहां चली जा। तेरे लिए सारे रास्ते खुले हैं। एकबार कह दिया कि इस घर में तेरे लिए जगह नहीं है। (मृगांकलेखा इस अपमान से दुःखी हुई घर से

निक़लती है। चित्रलेखा रोती हुई उसे समझाती है। मार्ग में नागरिक लोग दोनों की बातें करते हैं)

दुर्जन – (हँसकर) हँ हँ हँ.....देखा ! भगतन जाती है भगतन।

दुर्जन का मित्र – अरे भाई। देखली इसकी भगताई। बड़ी पतिव्रता कहलाती थी। ओ हो हो वाह रे, वाह पतिव्रता। (ताली बजाकर हँसता है) देखो, देखो इस पतिव्रता का सारा ही धर्म–कर्म टपकता है। देखा.......।

सज्जन – (अपने मित्र से अपनी आंखों में आंसू भरकर) मित्र, हाय बड़ा खेद है। यह.....'सागरचन्द्र' की धर्मपत्नि 'मृगांकलेखा' पतिव्रता की यह दशा, धिक्कार है इसके माता–पिता और सास.ससुर को। जिन्होंने कुछ भी दया न की। हाय, आज जो 'सागरचन्द्र' यहाँ होता तो क्या इसकी यह अवस्था होती ?

सज्जन का मित्र – बंधु ! इनकी यह दशा देखकर मेरा हृदय फटा जाता है। परंतु इसमें अपना उपाय ही क्या ? अरे रे ऐसे निर्दयी माता–पिता, तो किसी को भी नहीं होते। जो जरा भी दया न लाए। हाय घर में आती हुई लक्ष्मी को धक्का मारकर निकाल दी। सचमुच ही इनपर दैव रुष्ट हुआ है। परमात्मन् ! इस दीन अनाथ पर कृपा कर।

दो स्त्रियां – (आगे आकर मृगांकलेखा से) बेटी रोओ मत। कर्मों के सामने किसी की भी पेश नहीं चलती। जैसै कर्म किए हैं। वे भोगे ही छुटकारा है। अब धैर्य धर।

पहली स्त्री – (दूसरी से) हाय, हाय। देख तो सही, बिचारी की आंखों से कैसे मोती मोती जितने आंसू जा रहे हैं। अरे रे ऐसी अवस्था तो भगवान किसी को न दे।

दूसरी बहन – भाग्य की बात है। (श्वास भर के) परंतु बहन बड़े खेद की बात है, तो यह है कि इन निगोड़े को तो देखो। मुसंडों को तो देखो। जो धीरज देने के बदले खोटी– खोटी बातें कहकर खुश हो रहे हैं।

पहली स्त्री – बहन दुर्जनों का और काम ही क्या होता है धर्मी पुरुषों को संकट में पड़े देखकर हँसना।

दूसरी स्त्री – हे प्रभु ! इस पर दया कर। इसके दुःख को दूर करना। बस प्रभु तूं ही है। (मृगांकलेखा रोती हुई सखि के साथ नगर से बाहर निकलती है)

तीसरा दृश्य

(स्थान – भयानक, अटवी–उजाड़ जंगल – एक सरोवर के पास देवालय–पर्वत और भीलों की पल्लियाँ)

मृगांकलेखा – (चित्रलेखा से) सखि ! चलते–चलते, कंकरों और कांटों से पैरों के तलिए छिल गए। अब नहीं चला जाता। अब पैर नहीं उठता। हाय रे (रोती हुई एक वृक्ष के नीचे बैठ जाती है)

चित्रलेखा – पैरों को हाथ से दबाकर। हाय, हाय। तलियों में तो खड्डे पड़ गये हैं और पैरों में तो खून निकलता है। (रोती है)

मृगांकलेखा – सखि ! (गरम श्वास भर के) रोने से क्या होगा। अपने किए शुभाशुभ कर्मों का फल यह जीव भोगता है। किसी पाप कर्म का यह उदय हुआ है। जो अपने को यह दुःख देखने का समय आया है। अब तो सिर पड़ी आपदा भोगे ही छुटकारा है।

चित्रलेखा – (स्वगत) हाय ! जिन कोमल चरणों ने एक भी डग नहीं भरा। जिसनें सौ डग पृथ्वी भी स्पर्श नहीं की, वे ही चरण इस उजाड़ जंगल की कठीन भूमि को जोजन प्रमाण उलंघ आए हैं।

मृगांकलेखा – सखि ! क्या सोचती है। अब तो उसी मारग को पूछते पूछते, चलो, जिधर सैन्य के साथ 'आर्य' गए थे। उन्हीं मारग पर चलिए।

चित्रलेखा – ठीक है। उसके सिवाय दूसरा उपाय ही क्या है। परंतु अब चलने का समय नहीं रहा। सायंकाल हो गया। रास्ते में कोई बटोही भी नजर नहीं आते। पक्षीयों ने अपने अपने घोंसले में निवास कर लिया है। रात्रीचर, हिंसक पशुओं के फिरने का समय हो गया है। इसलिए रात्री तो इस वृक्ष के नीचे ही व्यतीत करें। प्रातःकाल में उठकर आगे चलेंगे। लो आप लेट जाओ। मैं आपके पैरों को चंपाती हूँ।

मृगांकलेखा – सखि ! जैसे मेरे पैरों का हाल हो रहा है। वैसे ही तेरे भी हो रहे हैं। (परस्पर, अपने ऊपर आये हुए संकट का विचार करती हुई रात पुरी करके प्रभात में आगे चलती हैं। इसी तरह चलते–२ तीन दीन व्यतीत हुए। मार्ग में श्रम के कारण पैर सूज गए हैं। थोड़ी–२ देर में बैठ–२ कर झरणों के पानी से प्यास बुझाते हुए आगे चलती हुई चौथे दिन एक वृक्ष के नीचे भूख की मारी बैठ जाती है।

चित्रलेखा – सखि ! आज चार दिन हुए अन्न के बिना। प्राण कितने दिन टिकेंगे।

मृगांकलेखा – (रोती हुई) अरे इन वन वृक्षराजी के समूह को मेघ के समान आनंद देनेवाले हे 'सागरचन्द्र' हे जीवाधार। आपको मैं कब देखूंगी ?

"हा नव जलधर देहवर, मूढ मन कमल दिनेश।"
"क्या इस दासी का कभी, दूर न होगा क्लेश।।"

"हा हा ऐसा है किया, मैं ने क्या अपराध।"
"जिस कारण यह सह रही, दुःसह दुःख अगाध।।"

हे नाथ ! मैंने आप दीर्घदर्शी को कहा भी था कि आप उस रात्रि में, मेरे पास आने का समाचार अपने माता पिता, से निवेदन करते जाईए। परंतु आप बिना ही कहे चले गए। हे प्राणेश ! इसमें आपका किचिंत् मात्र भी दोष नहीं है। यह मेरे ही कर्मों का दोष है।

हे जंगल की देवियों। हे जंगल के देवताओं। हे आकाश गामिनी विद्याधरों। अरे रे हाय, हाय। मुझे इस प्रकार दुःख सागर में डूबती हुई देखकर। तुम्हें दया क्यों नहीं आती ? तुम मेरी यह अवस्था जाकर क्यों नहीं सुनाते। हा तात। हा मात। मेरे भाई धनंजय के इतना समझाने पर भी आपका कोमल हृदय पत्थर से भी अधिक कठोर हो गया। हा दैव। तूं ने यह क्या किया ?

"मुझ अबला को कष्ट, यों देते हुए सदैव।"
"क्यों न दया आती, तुझे अरे दुष्ट दुर्दैव।।"
"प्राण आधार वियोग के, सहकर भी विषबाण।"
"क्यों प्रयाण करते नहीं, पापी मेरे प्राण।।"

चित्रलेखा – (आंचल के साथ आंसू पोंछती हुई) अरे रे, रो मत। धैर्य धारण करो। आप तो सब समझती हैं। अब इस भयंकर अरण्य में रुदन करने से क्या होगा ? आपका यह रुदन और विलाप सुनकर मेरा हृदय भी अधीर होता है। अब तो माथे पड़ी को निभानी पड़ेगी। चुपकर जाओ। लो कहो आज चौथा दिन हुआ है। इस वन में भक्षण करने लायक कोई भी फलादि तो नजर नहीं आता है। आप कहो तो कंदमुलादि पदार्थ ले आऊँ। अब भुख से प्राण कंठ तक आ रहे हैं।

मृगांकलेखा – सखि ! भूख के मारे अब तो न चलने की शक्ति है, और न ही बोलने की शक्ति है। परंतु क्या तूं नहीं जानती है ? आर्हत् शासन में (जिन धर्म में) अनंतकाय होने से इसे अभक्ष्य कहा है। बस इन नश्वर प्राणों के लिए। अरे क्षणभंगुर जीवितव्य के लिए। हाय मैं। अपना नियम भंग करुंगी ? व्रत का भंग करना जीते ही मर जाना है।

चित्रलेखा – मान लिया। आपका कहना ठीक है। परंतु ऐसे संकट के समय में शास्त्रकारों ने आगार नियम भी तो बतलाए हैं। वृत्तितांकार का क्या मतलब है ? आप हठ न कीजिए। इसमें आपका नियम भंग नहीं हो सकता है।

मृगांकलेखा – सखि ! क्या कहा, आगार ? आगार तो कायरों के लिए है। बस इस विषय में तूं मुझे बहुत मत कह। मैं कंदमूल नहीं खाऊँगी। भले मेरे प्राण्ष चले जाये। (फिरते फिरते दो आदमी आते हैं)

एक – (मृगांकलेखा को देखकर सखि सहित) भाई ! देखा, उस वृक्ष के नीचे कोई दो स्त्रियां बैठी है।

दूसरा – (देखकर) हाँ बैठी तो हैं। परंतु मालूम होता है कि ये दोनों स्त्रियां किसी आफत में आई हुई है। क्योंकि बड़ी उदास और रोती हुई दिखाई दे रही है।

एक – चलो ! पूछो इनसे, कि तुम कौन हो ? (पास में जाकर) बहन तुम इस उजाड़ अटवी में कहाँ से आई हो ?

चित्रलेखा – भाई हम अपनी व्यथा क्या कहें ? (रोती है)

एक – अरे भद्रे ! रुदन मत करो। चलो उठो यहाँ नजदीक में हमारे स्वामी चित्रगुप्त सार्थवाह ने पड़ाव डाला है। उसके पास चलो। (चित्रगुप्त सार्थवाह के सामने जाकर खड़े होते हैं)

चित्रगुप्त – (अपने आदमी से) अरे ये कौन हैं ? तुम इनको यहाँ मेरे पास क्यों लाए हो ?

दूसरा आदमी – महाराज ! जब हम पानी की खोज करते–२ आगे जंगल में गए तो वहाँ इन दोनों को एक वृक्ष के नीचे बैठी और रोती हुई देखकर हमें दया आ गई, इसलिए हम इन दोनों को आपके पास ले आए हैं।

चित्रगुप्त – बेटियाँ ! तुम दोनों इस उजाड़ अटवी में कहाँ से आई हो ?

चित्रलेखा – पिताजी ! अपने दुःख की कहानी क्या कहें ?

चित्रगुप्त – (धीरज देकर) तुम किसी बात की चिंता मत करों तुम मेरी पुत्री के समान हो। तुम अपना सच्चा हाल मुझ से कह दो। जहाँ तुम कहोगी। वहाँ पहुंचा दूंगा।

चित्रलेखा – तात ! (मृगांकलेखा को दिखाकर) इनका नाम 'मृगांकलेखा' है। और मैं इसकी सखि हूँ। (और सारी घटना सुनाती है)

चित्रगुप्त – हाय, हाय। निष्ठुर कर्म जीवों को कैसे कैसे नाच नचाता है ? बेटी ! उदास मत हो। धैर्य को धारण करो। किये हुए कर्म तो इन्सान को भुगतना ही पड़ता है। व्यक्ति कर्म के कर्त्ता और भोक्ता खुद ही होता है। बाकी तो सब निमित बनते हैं। बेटी, दुःख में घबराना नहीं चाहिए। जहाँ तुम कहो वहाँ मैं तुम्हें पहुंचा दूंगा।

मृगांकलेखा – हे तात ! अब मेरे लिए केवल अपने पति....'आर्य' के सिवाय दूसरा स्थान कहाँ है ? वे राजा अवंतिसेन के सैन्य के साथ लाट देश की तरफ गये हैं। हे तात ! अब हम हमारे आर्य के

पास़ ही जाना चाहते हैं। अन्य कोई उपाय नहीं है।

चित्रगुप्त – अच्छा मैं लाट देश की तरफ ही जा रहा हूँ। बस तुम निश्चिंत रहो। मैं तुम्हे अवंतिसेन राजा के सैन्य में पहुंचा दूंगा। (अपने नौकरों से) अरे सुनों ! देखो और ख्याल रखो ! सबको इनको अपने कुलदेवी के समान समझना है। इन्हें किसी प्रकार की तकलीफ न हो। जाओ ले जाओ इन्हें अपने तंबू में। अच्छी तरह से इनके खाने पीने का प्रबंध करना (मृगांकलेखा से) जाओ बेटी इनके साथ। अपने पिता का ही घर समझना। शांति से भोजन करो। किसी बात से उदास मत होना। मेरे सार्थ के साथ–२ तुम्हें कोई तकलीफ नहीं होगी। मेरे रहते हुए तुम्हें कोई भी कष्ट नहीं आयेगा। आराम से रहो और धर्म ध्यान में अपना समय व्यतीत करो। बेटी ! उदास होने से और रोने से दु:ख घटने के बदले बढ़ता ही रहता है। अब जाओ आँसू नहीं बहाओगी। (सार्थ के साथ चलते–२ कई दिन सुख से व्यतीत हुए)

चित्रलेखा – सखि ! सार्थवाह के आदमी पड़ाव डालने पर, सब ही यथायोग्य काम करते हैं। तो मैं और कुछ नहीं कर सकती तो वन से सुखी लकड़ियां चुन लाया करुं तो क्या हर्ज है। तो आप आराम करो। मैं जंगल में लकड़ियां लेने जाती हूँ। (जाती है लकड़ी लेने। आगे रास्ता भूल जाती है। एक पहाड़ी के नीचे भील लोग मिलते है। वे उसे पकड़ ले जाते हैं)

मृगांकलेखा – (स्वगत) सखि को गये बहुत समय हो गया है। अभी तक क्यों नहीं आई ? कहीं रास्ता तो नहीं भूल गई (रोती है)

चित्रगुप्त – बेटी क्या हुआ ?

मृगांकलेखा – तात ! क्या कहूँ ? चित्रलेखा, वन में ईंधन लेने गई

थी। अभी तक नहीं आई। न जाने क्या हुआ ?

चित्रगुप्त – (घबराकर) अरे दौड़ो, दौड़ो ! जल्दी दौड़ो। देखो इधर उधर, उसको किसने कहा था ईंधन लाने को। (नौकर इधर उधर तलाश करते हैं। न मिलने से फिर लौट आते हैं)

नौकर – महाराज ! हमने इस जंगल का कोना कोना ढूंढा। मगर हमें चित्रलेखा का कहीं भी पता नहीं चला।

मृगांकलेखा – हाय। सखि ! तूं कहाँ चली गई ? हाय अब मैं अपना दुःख किसके सामने कहकर अपना दिल शांत करुंगी। अपने हृदय की बात किसके सामने कहूंगी। सखि ! तेरे बिना अब मुझे कौन धीरज बंधायेगा। मैं तेरे बिना दिन कैसे काटूंगी। (सिर पटककर) हाय ! अब मेरे साथ कौन दुःख सहेगा ? अरे दैव ! इस दुःख में मेरी ये सखि ! ऐक अंधों के लकड़ी के समान आधार भूत थी। उसे भी तूं ने मुझसे जुदा कर दिया। अरे दुष्ट दैव। मुझे कष्ट देते हुए तुझे जरा भी दया नहीं आती है। हाय, हाय। अब मैं क्या करुं ? अरे मेरी प्यारी सखि ! ओ चित्रलेखा तूं कहाँ गई ?

चित्रगुप्त – बेटी ! अब धीरज धर। रुदन करने और विलाप करने से क्या बनेगा। (चित्रगुप्त के धीरज देने से सार्थ के साथ चलती है। राजा विजय सेन सार्थवाह को, मालवे से आया जानकर लुट लेता है। मृगांकलेखा अपनी जान बचाकर भागती हुई एक देवालय में जाकर छिप जाती है। और अपने भाग्य पर रोती है)

मृगांकलेखा – अरे दैव ! तू मेरे पीछे हाथ धोकर क्यों पड़ा है ? मैंने तेरा क्या बिगाड़ा है ? (देवालय के एक कोनें में बैठी, बैठी विलाप करती है। आधीरात के समय एक सिंह के गरजने का

भयानक शब्द सुनाई देता है, उसके भय से पूर्व दिशा से निकले सूर्य के समान कांतिवाले पुत्र का प्रसव होता है। उसी समय आकाश में चन्द्र उदय होता है। चंद्र के प्रकाश में कांतिमान पुत्र को देखकर प्रथम तो कुछ दुःख भूल गई। परंतु अपनी अवस्था देखकर पुत्र को गोद में लेकर विलाप करने लगी) ।

हे वत्स ! यदि इस समय तेरा पिता अपने घर होता तो, देवताओं को भी आश्चर्य पैदा करने वाला तेरा जन्मोत्सव करता। हाय, मैं निर्भाग्य शिरोमणी क्या करुं ? पुत्र मुझ अभागिनी कूख में तुंने जन्म क्यों लिया ?

वन देवता – (सामने होकर) भद्रे ! रुदन करने से क्या होगा ? धैर्य धर। देख लाभ और हानि यह बड़े पुरुषों को ही हुआ करती है। देख, विचार कर, सूर्य और चंद्रमा की जितनी महिमा होती है। उतना ही उन्हें राहु से दुःख उठाना पड़ता है। परंतु उन्हीं के पास रहने वाला तारागणों की महिमा नहीं होती है। नहीं मानता होती है। ना ही उन्हें दुःख उठाना पड़ता है। भद्रे ! देख कभी कोई आँखों की भौंहें को भी मुंडवाता है ? परंतु मस्तक के केशों को मुंडवाना ही पड़ता है। तो चढ़ते हैं, वे ही पड़ते हैं। (समझाकर वन देवता जाता है)

मृगांकलेखा – (स्वगत) प्रातःकाल हो गया। अब क्या करुं ? शरीर शुद्धि तो करनी ही पड़ेगी। अच्छा इसको यहाँ ही रखकर, सरोवर में स्नान कर आऊँ। (साड़ी का एक भाग फाड़कर उसमें पुत्र को लपेट कर कोने में रख आप स्नान करने जाती है। इतने में एक कुत्ता वहां आता है। तत्काल में जन्में हुए बालक की गंध आने से वह देवालय में घुसकर, उसको कपड़े सहित मुँह में दबा कर भग

जाता है। कुंदनपुर के किनारे नदी पर शौच के लिए आए हुए वैश्रमण नाम के सेठ को देखकर कुत्ता डरता है। कपड़े लिपटा हुआ बालक कुत्ते के मुंह से गिर जाता है। वैश्रमण उठा कर घर ले जाता है। मृगांकलेखा सरोवर में स्नान करके आती है। परंतु कोने में पुत्र को नहीं देखकर मूर्छित हो पछाड़ खाकर पृथ्वी पर गिरती है। कुछ देर बाद वृक्ष के पवन लहरों से होश में आकर उठती है। चारो ओर देखकर विलाप करती है। और जोर जोर से छाती फाट रुदन करती है)

मृगांकलेखा – हा दैव ! तूं ने मुझे लुट ली। अरे रे। मैं क्या करुं। अब किसके सामने जाकर पुकार करुं ? हा। श्री वत्स। मत्यादि लक्षणों की श्रेणियों से शोभायमान। सोने के समान सुंदर वर्णवाला हे वत्स। तुझे कौन ले गया। हा पुत्र ! तेरी क्या गति हुई। तूं कहाँ है ? हाय तूं कहाँ चला गया ? (दोनों हाथों से सिर पिटकर) हाय, हाय मैं पुण्यहीन अभागिनी तुझे यहाँ छोड़कर चली गई। मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई। जो मैं तुझे साथ उठा न ले गई। अरे रे इस प्रतिकुल विधि ने तो मुझे ठग लिया रे दैव। पहले तो तूने मुझे पति के वियोग से दुःखिनी किया, फिर माता–पिता से जुदा किया। बाद में प्रिय सखि से जुदा किया। अब इस पुत्र की प्राप्ति हुई तो उसको भी तूं ने मुझसे छीन लिया। इतना दुःख देकर भी तुझे संतोष नहीं हुआ ? रे दुष्टाशय...अब और क्या चाहता है। हे भगवान ! कैसे दिन दिखलाये हैं। तूंने......! हे....विधाता.....यह कौनसा इन्साफ....सारे दुःख का पात्र, मुझे ही बना दिया ? मेरी.....जान... मेरा प्यारा....बच्चा ? कहाँ होगा। इस बिचारे ने अभी इस दुनियां को देखने के लिए पूरी आंख भी नहीं खोली थी। उससे पहले ही

हे विधाता। तुं ने उसको मुझसे छीना। बेटा ! तूं कहाँ है। तेरी अभागी माँ कुछ नही जानती। कोई ऐसी माँ, नहीं होती बेटा। जो अपने जिगर के टुकड़े को दूर करे। बेटा। मेरी ही भूल हुई जो तुझे मैं सरोवर किनारे साथ न ले गई। बेटा तूं सुखी होगा या दुखी। मैं ने तो तुझे कोई सुख नहीं दिया। इस निर्दय संसार में, मैं तुझे कभी अपनी नजर से दूर न रखती। मेरे लाल ! दुष्ट दैव ने मुझ से बहुत बड़ा धोखा किया। हाय, हाय, मेरा लाल। मैंने नहीं सोचा था ऐसा कि मेरे सपनों का महल टूट जायेगा ?

अँखियों से नींद गई, मनवा से चैन रे ।
छुप छुप रोये मेरे, खोये खोये नैन रे।।

(वक्त अपनी रफ्तार से चल रहा था। धूप और छांव की भांति सुख–दुःख जिंदगी के चक्र में आते रहे थे। मैं खामोश होकर सब सहे जा रही थी। शिशु का अपहरण होने के अनंन्तर उसने देखा कि बालक उसके पास नहीं है तो इधर उधर दृष्टि दौड़ाने पर चारों तरफ तपास करने पर भी जब बालक कहीं भी नहीं नजर न आया तो उसके हृदय में शोक संताप की भयानक ज्वालाऐं दहकने लगी। वह बार–२ मूर्छित होकर धड़ाम से धरती पर गिर पड़ती। वन वृक्षों के पवन से होश में आती थी। मगर चित में पीड़ा इतनी उग्र और गहरी थी कि, पुत्र का वियोग उसे ऐसी वेदना पहुंचा रहा था। मानों मर्म स्थानों में भाला भोंक दिया हो।) हाय लाल। ऐ मेरे कलेजे के टुकड़े। तुम कहाँ हो। ऐसे–२ शोक पूर्ण वचन कहकर 'मृगांकलेखा' सिर–छाती कुटने लगी। उसका अंग, अंग, वियोंग....की आग में जलने लगा। विलाप करती हुई। कहती है। हा दैव ! तूं ने यह क्या किया ? तुझे रंज मात्र भी दया न आई। मेरे लाडले लाल को कहाँ

छिपा दिया ? वो मेरी आँखों का तारा। मेरे प्रणों का प्राण कहाँ है ? हे लाल तूं कितना सुकुमार, कोमल और सुन्दर था। क्या तेरा हृदय तेरे शरीर के भी बराबर भी कोमल नहीं था। फिर इस अभागिन माता पर तरस क्यों नहीं आया ? तूं अपनी माता को झूरती छोड़कर कहाँ चल दिया ? अथवा, किस निर्दय, हृदयहीन ने तूझे मुझ से अलग किया ? अहा। किसी वैरी ने ही यह करतूत किया है ? कौन है वह पिशाच, जिसने मेरा कलेजा निकाल डाला ? हाय किस ने छीन लिया ? मेरे लाल को। दुःख के इस पहाड़ को कैसे सहूँगी ? हे वत्स! जगत में तुझसे अधिक प्रिय मेरे लिये कौन है ? आज तुझे देखने के लिए दिल तरस रहा है। आंखें फड़फड़ा रही है। जल के अभाव में मछली की भांति मेरे प्राण तड़प रहे हैं। हाय ! मुझसे अच्छी तो यह पक्षिणी है। वह भाग्यशालिनी है। जिसके आँखों के सामने उसका अंगजात मौजूद रहता है। जो चुग्गा ला लाकर अपने बच्चों का पेट पालती है। मेरा मनुष्य जीवन किस काम का? धिक्कार है। मेरे नारी जीवन को। मैं मेरी माता के गर्भ में ही गल जाती तो, आज यह दारुण मनोवेदना न भोगनी पड़ती। क्यों मैंने ऐसे सुंदर सुकोमल कुमार को जन्म दिया। वह तो चार घड़ी आनंद का गया। और मुझे जिंदगी भर के लिए दुःख के सागर में डाल दिया। ओ हो। मैंने अपने दुर्भाग्य की तो कल्पना ही न की। आह ! मेरा कोई भी मनोरथ पूर्ण नहीं हुआ। मुझे यह दुस्सह वेदना क्यों सहनी पड़ी ? पूर्व जन्म में मैंने ऐसा कौन सा पाप किया था। मैंने पृथ्वी फोड़ी थी, क्या सरोवर का जल सुखाया था और जलचरों को तड़फड़ाने का मौका दिया था। क्या मैंने आग लगाई थी। अनछना पानी काम में लिया था। पानी डालकर आग बुझाई थी। हरियाली को कुचला था। अंकुर

तोड़े थे, किस कारण मेरा भाग्य फूटा ? निर्दय होकर अभक्ष्य भोजन रांधा और खाया था मैंने, जूँओं और लीखों की निर्दय होकर हत्या की थी ? रात को गोबर इक्ठा करके रखा होगा। चिटियों के अंडें फोड़े थे ? उदेई का घर फोड़ा था ? क्या मैंने ऐसे सारे कोई पाप कर्म किये थे जिसकी सजा भोग रही हूँ ?

हिरण, बकरी, तोता, चिड़ियाँ आदि का माता से विछोह कराया था। क्या निंदा और चुगली की थी। किसी की प्यारी वस्तु चुराई थी। आखिर किस पाप कर्म का यह दुष्फल मुझे भुगतना पड़ रहा है ? मेरी विपति का कारण मैं स्वयं ही हूँ। मैंने ही कोई चांडाल कृत्य किया होगा। (इतने में वहाँ से जाती हुई दूध बेचने वालियों ने, विलाप करती हुई मृगांकलेखा को देखकर खड़ी हो जाती है। मृगांकलेखा उसी तरह विलाप करती है) हे दुष्ट दैव तूं ने क्या किया मुझे लूट लिया।

ललिता – (दूध बेचने वालों में से एक तरस खाकर) बहन ! बस करो। मत रोओ। रोने से क्या हाथ आयेगा ? आओ उठो, चलो मेरे साथ गोकुल में (हाथ से पकड़ कर उठाती है)

मृगांकलेखा – बहन ! तुम सरीखी कल्याणकारी करुणा परायण, दयालु बहनों का जगत में कल्याण हो। परंतु निर्दय दैव मेरे पीछे हाथ धोकर पड़ा है। उसके सामने तुम्हारी एक भी नहीं चलेंगी। तुम मुझे अपने गोकुल में ले जाकर क्या करोगी ? बहन जो किया है, वह भोगे बिना छुटकारा नहीं।

ललिता – बहन ! धीरज धरो। तुम मेरे साथ गोकुल में चलो। किसी बात की चिंता मत करो। (ललिता धीरज देकर गोकुल में ले जाती है)।

चौथा दृश्य

(स्थान – गोकुल, ललिता का धर – तथा गोकुल के मालिक वसंत की हवेली)

ललिता – देखो बहन ! इस घर को अपना ही घर समझो। खूब खाओ पियो और आनंद करो। यहाँ तुम्हें किसी बात की चिंता नहीं होगी। आनंद में रहो इसे अपना ही घर समझना ? (अपने घर में अच्छी तरह उसकी सारवार करती है। गौरेसादि से उसके शरीर को और मीठी वाणी से उसके मन को पुष्ट करती है)

वसंत – (गोकुल में मृगांकलेखा को देखकर) इस का शरीर तो बड़ा ही कृश है। परंतु.....इसका रुप तो साक्षात् देवांगनाओं को भी फिका करे जैसा है। यदि यह मुझे.......अंगीकार करे तो.....मेरा जीवन......सार्थक हो। इसके साथ मेरा मिलाप कैसे ? अच्छा। इस "माधुरी" द्वारा कुछ बातचित चलाऊँ। (प्रगट – गोकुल की एक स्त्री से) अरि माधुरी !

माधुरी – क्या है, कहिए ?

वसंत – हैं क्या ? वह जो ललिता के घर 'मृगांकलेखा' आई है।। इसके साथ तेरा वार्तालाप है क्या ? तूं इससे कभी मिलती है या नहीं ?

माधुरी – हाँ, बड़ी अच्छी तरह से, इसका स्वभाव बड़ा ही मिलनसार है। इसके पास जब हम बैठते हैं तो उठने का जी भी नहीं करता।

वसंत – तूं इसके साथ मेरा किसी प्रकार से मेल करा दे। जैसे बने वैसे तूं इसे मेरे वश मे कर दे। मैं तुझे मुंह मांगा दाम दूंगा। और तुझे निहाल कर दूंगा।

माधुरी – आपकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य है। परंतु कार्य बड़ा ही कठिन है। अच्छा फिर भी मैं जाकर समझाने की कोशिश करुंगी। (जाती है, और ललिता के घर मृगांकलेखा के पास बैठती है)

ललिता – अरे ! माधुरी, आज इस समय तूं कैसे आई ? क्या काम है?

माधुरी – यूं ही। स्वाभाविक ही आ गई। इधर से निकल रही थी तो सोचा थोड़ी देर ललिता के घर मृगांकलेखा से कुछ बातचित करूं। उसका मन बहलाने के लिए।

ललिता – अच्छा तूं यहाँ बैठना, मैं अभी आती हूँ।

माधुरी – (मृगांकलेखा से) सखि ! अब तो आनंद है। किसी बात की चिंता तो नहीं है ? यहाँ तो अब तुझे कोई तकलिफ नहीं होगी। हमारी ललिता बहन बड़ी दयालु हैं। इससे किसी का दुःख देखा नहीं जाता है। अपने से बनती, उतनी सहायता कर ही देती है।

मृगांकलेखा – सखि ! तूं सच कह रही है। यहाँ मुझे कोई तकलिफ नहीं है। बहन ललिता मेरा बहुत ख्याल रखती है। और, उसके मीठे वचनों ने मेरा दुःख...दर्द हलका कर दिया है। मुझे अपनी सगी बहन से भी ज्यादा समझती है।

माधुरी – सखि तूं तो कितनी पुण्यशालिनी है। अपने गोकुल के स्वामी 'वसंत' ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है। उनकी तुम पर बहुत ही कृपा है। वे तुमको बहुत ही चाहते हैं। तुम अपनी यह सुकोमल, यौवन....अवस्था को, उपभोग में न लाकर वृथा हा व्यर्थ गुमाती है। गोकुलाधिपति ! तुमसे प्रार्थना करते हैं। कहो तुम्हारी तरफ से क्या जवाब दूँ। जिससे उनको संतोष हो।

मृगांकलेखा – (पीछे हटकर) हा पापिनी ! तुझे यह न सुनने योग्य वचन सुनाते लज्जा नहीं आती है। धिक्कार है। विषय में अंध बने

हुए जीव, भावी नरक यातना से नहीं डरते। अरि पापे ! धिक्कार है तुझे। हजार बार धिक्कार है। उसे जो, तेरे मुख से ऐसे वाक्य कहलवाता है। जा....चली जा यहां से। मेरी आंखों के सामने से दूर हट जा। हा दैव ! कामियों की क्या दशा होगी ? हाँ विषयांध, जो कुछ करें सो थोड़ा है। (स्वगत) हाय ! अब यहाँ मेरा कौन सहायी है। यह दुष्ट 'वसंत' गोकुल स्वामी ही इस प्रकार अन्याय करने में प्रवृत हो रहा है। तो मैं पुकार भी किससे करूं? अस्तु ! कुछ भय नहीं है। जहाँ तक शरीर में प्राण है, वहाँ तक मेरे.... शील को इन्द्र भी खंडन नहीं कर सकता है। इस वसंत की तो बात ही क्या है। (माधुरी के साथ जो ग्वालन आई थी, उन सभी का मृगांकलेखा तिरस्कार करके निकाल देती है। और स्वयं विचार करती बैठी रहती है)

सती पराए पुरुष, सागरी परनार।
त्याग करें शुभ भाव से, धन मानव अवतार।

(ललिता प्रवेश करती है)

ललिता – बहन ! क्यों क्या हुआ ? आज तूं इतनी उदास क्यों है? क्या तुम्हें किसीने कुछ कहा ? अचानक तूं एकदम उदास और निराश कैसे हुई ? तेरी आंखों में आज आंसू क्यों उमड़ रहे हैं। (पास में बैठ कर, प्रेम से पूछती है)

मृगांकलेखा – बहन ! कहना क्या ? जब बाड़ ही खेत के चीभड़े खाने लगे तो, फिर उनकी रक्षा कौन करेगा ? गोकुल के स्वामी 'वसंत' ने जो कुछ आज 'माधुरी' के द्वारा कहला भेजा है, वह सुनकर मेरा हृदय फटता जा रहा है।

ललिता – (मृगांकलेखा को शील में निश्चल देखकर) बहन ! तुम जरा भी मत घबराओ। मैं अभी जाती हूँ। और उन्हें समझाती हूँ। तुझे चिंता करने की जरुरत नहीं है। मैं सारा मामला निपटा दूंगी। (ललति, गोकुल स्वामी वसंत के पास जाकर) स्वामिन् ! आप यह क्या कर रहे हो। आपके दिल में ऐसी बुरी भावना कहाँ से प्रगट हुई ? अपने लिए सब ही सतियाँ पूजने योग्य है। क्या कहना इस मृगांकलेखा महासती का, जो अपने घर पर आई हुई है। आप अपने दिल से ये बुरे विचार निकाल दो। नहीं तो इसका परिणाम बहुत ही बुरा आयेगा। मैं आपको प्रार्थना करती हूँ कि, वह सती है। उसके लिए आप अपने मन में बुरे विचार न लाओ।

वसंत – (क्रोध में) अच्छा, जा, जा! यहाँ से निकल दूर हो, मेरे सामने से। इस तेरी शिक्षा को रहने दे, अपने पास ही। लिए फिरती है सती, सती क्या है। सती वती मैं नहीं जानता। (स्वगत) बस जब मैं उसको, अपने घर में नहीं ले आता तब तक ही वह मुझसे नहीं बोलती। इसलिए आज रात को ललिता के यहाँ से उसे सोती हुई को अपने मकान में उठा लाऊँगा। (ललिता निराश होकर जाती है, वसंत रात्रि के समय मृगांकलेखा को जबरदस्ती उठाकर अपने मकान में ले जाता है)

मृगांकलेखा – (झबककर) रे पापी ! तूं अपनी इस दुष्टता से हट जा।

वसंत – देख, मैं तेरे पैरों में शिर रखकर प्रार्थना करता हूं। तूं मेरी इस प्रार्थना को कबूल कर। मैं हमेशा के लिए तेरा दास हूँ। प्रसन्न होकर मुझ पर दया कर। मैं तेरे रुप पर पागल बना हूँ। मृगांक, तूं मुझे अपना ले, तेरे बिना नींद हराम हो गई है। मेरा खाना पिना भी छुट गया है। मैं तेरे पास...प्रणय की भीख माँग रहा

हूँ। मुझे....विश्वास है कि तूं मुझे......नहीं ठुकरायेगी....मैं तेरी हर आज्ञा का पालन करुंगा। एक बार, अपनी...निगाह से मुझे निहार कर निहाल कर दे। प्रिय देख अब तूं मुझे ज्यादा नहीं सतायेगी। मेरी इच्छा को....पूर्ण करना होगा। तुझे नहीं तो (डर दिखाकर) नहीं तो देख। यहाँ तेरा कौन है। तुझे बचाने वाला, तूं यहाँ क्या कर सकती है। अब तूं मेरे हाथ से नहीं जा सकती है। (शरीर पर हाथ डालने जाता है)।

मृगांकलेखा – (क्रोधपूर्वक लाल आंखें करके, पीछे हटती है) रे नीच, कमीन। हट जा, खबरदार है अगर मुझे हाथ लगाया तो। (सिंहनी की तरह मृगांकलेखा एकदम दहाड़कर बोली, उसकी दहाड़ सुनकर वसंत हँसने लगा। और उसी समय वसंत को एकदम वमन और दस्त लग जाते हैं, घर के सब घबराते हैं, वसंत को खून की उल्टियां होने लगती है और काल कर जाता है। सती का महात्म देखकर सब पैरों में गिरते और माफी मांगते हैं)

सभी के सभी – (मृगांकलेखा से) हे माता ! तूं कृपा करके गोकुल में ललिता के घर ही जा। (मृगांकलेखा वसंत के घर से गोकुल में ललिता के घर जाने को निकलती है। रात्रि का समय होने से रास्ता भूल जाती है और उजाड़ जंगल में जाती है)

पांचवा दृश्य

(स्थान – उजाड़ जंगल – मंदरपुर ग्राम और भद्रकाली का मंदिर)

मृगांकलेखा – (एक वृक्ष के नीचे हाथ की हथेली में अपना मुख रखकर रोती है) हाय रे ! कहाँ वह माता–पिता की हवेली। कहाँ वह मेरा महल और कहाँ यह आज उजाड़ जंगल, भयानक अटवी

कहाँ....माता पिता....कहाँ सास ससुर....कहाँ मेरी प्रिय सखि ? कहाँ मेरा प्राण–जीवन पति....आहा...कहाँ मेरा वह सुकुमाल बाल, और कहाँ मैं इस भयानक अटवी में। अहा....कर्म....की कैसी यह...... विचित्र गति है ? (रुदन करती है)

हो गए हरिश्चन्द्र सतधारी, जिन्हों की बिक गई नारी।
भर्यो हे नीच घर पाणी, करम गति नाहि तैं जानी।।
बैठकर चालते हाथी, हजारों संग में साथी।
करम गति आन के होई, पर घर टोकरी ढ़ोई।।

हाय, हाय ! कर्म की बलिहारी है। सभी को अपने पंजे में पकड़ लेती है।

मकरन्द तापस – (रोने का शब्द सुनकर, स्वगत) यह तो किसी स्त्री के रोने का शब्द है ? (पास जाकर मृगरंकलेखा से) भद्रे ! तूं कौन है ? ऐसे भयानक स्थान में तेरा आना कैसे हुआ ? तूं क्यों रोती है। क्या कारण है रोने का ?

मृगांकलेखा – तपस्विन् ! अधिक क्या कहूँ ! मैं शरण रहित हूँ।

मकरन्द – भद्रे ! उठ चल, मैं तुझे अपने कुलपति के पास ले जाता हूँ।

मृगांकलेखा – (डरती हुई) कहाँ....?

मकरन्द – बहन डर मत, यहाँ से थोड़ी दूर पर हमारा तापसों का आश्रम है।

मृगांकलेखा – (मकरन्द के पीछे पीछे चलती है, तापसों के द्वारपर जाती है)

कुलपति – अरे मकरन्द ! यह तेरे साथ स्त्री कौन है। यहाँ तो तापसों के आश्रम में स्त्री का क्या काम है ? तूं इसे क्यों ले आया।

मकरन्द – (हाथ जोड़कर) विभो ! यह विपतियों में आई हुई शरण रहित है। करुणानिधे ! इसका विलाप सुनकर मेरा दिल भर आया, दया कीजिए। ये निस्सहाय है। आप इसे आपकी शरण दीजिए। इस दुःखी के दुःख को दूर कीजिए। मैं आपको....प्रभु ज्यादा तो क्या कहूँ। ऊँचे घराने की स्त्री है। दुःख से व्याकुल बनी हुई है।

कुलपति – (मृगांकलेखा से) पुत्री ! यह तो तापसों का आश्रम है। यहाँ हम तुझे कैसे रख सकते हैं ? (मकरंद से) भद्र ! इसके साथ जा और 'मन्दर' ग्राम के पास (नजदीक) में इसे छोड़ आ। वहां से ये अपना रास्ता ढूंढ लेगी। तापसों के आश्रम में अपने यहाँ किसी स्त्री को स्थान नहीं है।

मकरंद – आज्ञा महाराज ! (मृगांकलेखा को मंदर ग्राम के बाहर छोड़ जाता है। मृगांकलेखा नगर में प्रवेश करती है। वहाँ उसे राजा के सिपाही पकड़ कर, भद्रकाली के मंदिर में ले जाते हैं)

मृगांकलेखा – (महाभद्रकाली के मंदिर में 10 पुरुष व 9 स्त्रियों को देखकर) अरे भाई ! तुम सब उदास क्यों हो ?

एक बहन – क्या पूछती हैं। कि उदास क्यों हो। परंतु हम स्त्री का मृत्यु यहाँ ले आया है।

मृगांकलेखा – यह कैसे ? मृत्यु तुम्हें यहाँ ले आया है ?

सिपाही – (धमकाकर) खबरदार है ! यदि परस्पर कोई बोलोगे तो। (अभी राजा, मंत्री आदि परिवार सहित आता है) यहाँ कोई भी बातचित नहीं करेंगे। चुपचाप खड़े रहो।

पूजारी – (आगे बढ़कर) जय हो महाराज की !

सिपाही – (हाथ जोड़कर) महाराज ! आपकी आज्ञानुसार 10

पुरुष व 10 स्त्रियां तैयार है। उन सभी को बताने लगा।

राजा – (सबसे) अरे सुनों ! मैंने भद्रकाली के आगे यह प्रतिज्ञा की थी, कि जब मेरे पुत्र होगा। तब मैं 10 पुरुष व 10 स्त्रियों की बलि दूँगा। तो मैंने अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिए आज तुम सभी को एकत्रित किया है। और यह मेरे कुल का भी धर्म है कि, जब पुत्र होता है तो 10 पुरुष व 10 स्त्रियों की बलि भद्रकाली के आगे दी जाती है। इसलिए एक जीवितव्य के यानि प्राणों को छोड़कर, जो जिसको अभीष्ट हो – जो इच्छा हो वह माँग सकते हो। जीवितव्य को नहीं।

बीस ही जने – (स्वगत) बज्र ही क्यों न पड़े, ऐसे कुल धर्म पर, जो एक के लिए बीस का वध किया जाता है। अरे ! अपने जावन के लिए अमरापुरी के राज्य को भी छोड़ देता है। ऐसे प्रिय जीवन के नाश करने से जो पाप होता है। वह भला किस प्रकार छुट जाता है। मेरु पर्वत जितना सुवर्ण का दान करे। धन की क्रोड़ राशियें देवें। और एक तरफ एक जीव का वध करें तो भी वह इस दान से नहीं छुट सकता है। (सब के सब भयभीत हुए राजा के मुख के सामने देखते हैं)

मृगांकलेखा – (धैर्य धरकर) राजन् मैं याचना करती हूँ।

राजा – हाँ – खुशी से, एक जीवन को वज कर जो मर्जी में आवे सो मांग।

मृगांकलेखा – राजन मैं यह मांगती हूँ कि, पहले तूं मुझे मार। पीछे जो तुझे रुचे सो करना। देवता और बलवान के कारण मैं यह पापकारी वचन मार ऐसा कहती हूँ। राजन् ! प्राणी के वध करने के पाप का तो कहना ही क्या ? परंतु प्राणी वध होते देखना

भी महापाप है। इनका वध मैं अपनी आंखों से कैसे देख सकती हूँ। राजन् ! इन सभी का वध मुझसे देखा नहीं जायेगा।

राजा – ओ हो ! इसके मन में कितनी दया है। कितनी करुणा है। बहन तूं जा यहाँ से, चली जा, मैं तुझे अभय देता हूँ। तेरी मति देखकर तुझे छोड़ देता हूँ।

मृगांकलेखा – (राजा का कुछ द्रवित हृदय देखकर हाथ जोड़कर आगे कहना चाहती है। और मन में सोचती है) अवसर अच्छा है। जरा इन सभी के लिए राजा से कुछ बात करुं तो सही। हो सकता है। अगर इसका दिल पसीज जाय तो। इन सबको छोड़ दे तो बस, (प्रगट) हे भाई ! पीछे मारे जाने वाले इन सबको छोड़कर मैं अकेली तो न जाऊँगी। कृपा करके मेरे बदले तूं इन सभी को छोड़ दो। और तुम मुझे अकेली को मार दे। बिलंब मत कर। जल्दी मार।

राजा – (मृगांकलेखा की करुणा रस से भरी हुई वाणी सुनकर अपना सिर धुनता है) आहा ! धन्य हैं। इसकी मति। अपने प्राणों से पर के प्राणों की रक्षा करनी। कैसी, इसकी उपकार बुद्धि है ? धिक्कार है मुझे जो, इतने मनुष्यों के प्राण लेने को उपस्थित हुआ हूँ। हाय मेरी क्या गति होगी। (प्रगट) मृगांकलेखा से – भद्रे ! मैं तेरे इस परोपकार को देखकर चकित हो रहा हूँ। मेरा हृदय मेरा दिल पानी पानी हो गया है। दुर्गति में ले जाने वाली यह लहू लुहान। हिंसा से मुझे बचा लिया। हे सती शिरोमणी। (पैरों में पड़कर) मेरा शरीर थर्रा रहा है। बोलने को मेरी जबान नहीं चलती। बस अब इतना ही बोल सकता हूँ कि, आगे को मैं कभी भी किसी जीव की हिंसा नहीं करुंगा। न कराऊँगा। माँ ! तूं ने

मुझे नरक में जाने से बचाया, इसका बदला तो मैं भी नहीं चुका सकूंगा। (सबसे) महानुभावों ! चले जाओ। सब ही चले जाओ। मैंने जिस कारण तुम्हें बंदि किया था, उसकी मैं तुमसे क्षमा चाहता हूँ। (सिपाही से) अरे छोड़ दो इन सभी को। और अपने अपने घर जाने दो। (सिपाही सबको छोड़ देता है। सबके सब मृगांकलेखा के पैरों में गिरते हैं) हे माता ! तेरी जय हो। तूं ने हमें जीवित दान दिया है। उससे हम तेरे इस उपकार को कभी नहीं भुलेंगे। (सब अपनी–अपनी राह पकड़ते हैं)

राजा – (मृगांकलेखा से) मैं तेरे सामने प्रतिज्ञा करता हूँ, कभी जीव वध न करुंगा।

मृगांकलेखा – हे राजन् ! इसी में आपका कल्याण है। (राजा सपरिवार घर जाता है। और मृगांकलेखा भी देवालय से निकल कर जंगल की तरफ जाती है। सामने से मुंह खोले एक बड़ा भारी विकराल सिंह आता है। देखकर डर के मारे कांपती है)

मृगांकलेखा – (स्वगत) हाय इस समय मेरी क्या गति होगी। (धैर्य धरकर) ओ हो मैं, किसलिए डरती हूँ। मेरा रक्षण करने वाला, मेरा शील सबसे बड़ा अस्त्र मौजूद है। फिर मुझे भय किसका ? (सिंह से प्रगट) सामने होकर। अरे सिंह सुन ! यदि मैंने अपने पति 'आर्य सागरचन्द्र' के सिवाय किसी पुरुष को मन करके भी चिंतवन किया हो तो, मुझे तूं तत्काल खाले। नहीं तो बस वहाँ ही स्तंभित हो जा। (सिंह एकदम भीत पर लिखे हुए चित्राम की तरह स्तंभित हो जाता है। 'मृगांकलेखा' आगे जंगल पहाड़ में होती हुई रात्री के समय एक वट वृक्ष के नीचे थककर बैठ जाती है। इतने में बड़ा भयानक, बड़ा विकराल रुप धारण किये हुए एक राक्षसी सामने आती है।

राक्षसी – (किलकारी मारकर) ऊँ, ऊँ, ऊँ, आज मैं कई दिन की भूखी हूँ। तुझे खाकर अपनी भूख मिटाऊँगी। (उछलती हुई आगे बढ़ती है)

मृगांकलेखा – हे राक्षसी ! सुन मेरी बात, यदि मेरे हृदय में, एक मेरा पति सागरचन्द्र ही बसता है तो तूं वहीं पर स्तब्ध हो जा।

राक्षसी – दोनों हाथ ऊँचे करके ..... हो..... (राक्षसी बंधी हुई हथिनी की तरह हो जाती है, मृगांकलेखा रात पुरी करके सिद्धार्थ नगर के उद्यान में पहुंचती है)

चौथा अंक

पहला दृश्य

(स्थान – सिद्धार्थ नगर के बाहर देवकुल, उद्यान, वेश्या का मकान और राज मार्ग)

माली – (मालन से) अरि यहाँ क्यों खड़ी है ?

मालन – (मुड़कर पति के पास आकर) नाथ ! उस वृक्ष के नीचे बड़ी उदास हुई एक स्त्री बैठी है। न जाने कौन है। उसका रुप तो परियों सा है।

माली – होगा इससे अपने को क्या ? जा देख उधर। वह 'कामसेना' वैश्या, सखियों के साथ फिरती–फिरती इधर आ रही है। उसे एक सुन्दर सी फूलों की माला भेंट कर। कुछ इनाम देगी तो दो चार दिन गुजारा होगा।

मालन – (टोकरी में से निकालकर) माला तो तैयार है। अच्छा मैं जाती हूँ। (कामसेना के सामने जाकर) जय हो ! यह माला......

क़ामसेना – (माला हाथ में लेकर) माला तो बड़ी अच्छी गूंथी है।

मालन – मुझे आपके आने का समाचार मिला था।

कामसेना – अच्छा ! तो यह माला क्या मेरे लिए गूंथी है ?

मालन – ऐसी माला का अधिकारी आपके सिवाय क्या नगर में, और भी हैं ? कोई।

कामसेना – वाह, वाह। तुझे ऐसा मीठा वचन बोलना किसने सिखया है। वृक्ष में कोयल बोलती है। मालूम होता है इस कोयल से तेरी प्रीति होगी। देख कैसा मीठा बोलती है।

मालन – जिसको सुनकर मेरा जी जलता है। अच्छा आप आगे पधारिये। (कामसेना टहलती–२ जिस वृक्ष के नीचे मृगांकलेखा बैठी है, वहाँ जाकर मृगांकलेखा से)

कामसेना – भद्रे ! तूं कौन है ? और ऐसी उदास होकर यहाँ क्यों बैठी है। (निकट में जाकर प्यार करती है)

मृगांकलेखा – बहन मेरा हाल पूछकर क्या करोगी। मैं हूँ, हत भागिनी। (आह भरती है)

कामसेना – (स्वगत) क्या ही उसका सुन्दर रुप है। यदि यह वैश्यापन स्वीकार कर ले तो मैं इसकी बदौलत राजा की भी माननीय हो जाऊँ। और द्रव्य भी बहुत कुछ प्राप्त हो जाय। (प्रगट अपने नौकरों से) अरे इसे ले चलो अपने मकान पर।

नौकर – जो हुक्म (मृगांकलेखा से) बाई जी चलो उठो। हमारे साथ ! (कामसेना के वहाँ जाती है।)

कामसेना – (मृगांकलेखा से) वत्से ! सुन मेरी बात। तूं अपनी इस यौवनवय को सफलकर। तूं हमारा यह गणिका पेशा अंगीकार

कर। और कामदेव की आराधना कर। हम तेरे वचनों को देवता के समान अंगीकार करेंगे। कोई भी तेरी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करेगा। और तूं सब की स्वामिनी बनकर रहेगी। और तुझे यहाँ हर तरह की सुख सुविधा मिलेगी। किसी बात की चिंता न रहेगी। और तुझे ये दर-२ ठोकरें नहीं खानी पड़ेगी।

मृगांकलेखा – (दोनों हाथ से कानों को ढ़ककर, स्वगत) आह पाप। न सुनने योग्य वचन मैं, सुन रही हूँ। (प्रगट) अरि द्रव्य से निर्वाह करने वाली गणिका ! बस। बस। अलम्....अब ऐसा शब्द फिर मत उच्चारण करना। देख मैंने जन्मकाल से लेकर, जिस शील की रक्षा की है। याद रखना मरणान्त में भी मैं उसका नाश नहीं करुंगी। (रोषपूर्वक) अरे ! उभयकुल को नाश करने वाला कलंकित करने वाला यह वेश्यापन कदापि भी अंगीकार नहीं करुंगी। (स्वगत, गाती है)

किस्मत तेरी रीत निराली, ओ छलने वाले को छलने वाली।
फूल खिला तो टूटी डाली, जिसे उल्फत समझ बैठा।।

हे भगवान् ! किस्मत ने कैसा खेल दिखया। जो कभी सोचा भी न था। जो कल्पना भी नहीं की थी। हे भगवान ! अब मैं क्या करुंगी? किसके सहारे जिंदगी पूरी करुंगी। मैं यहां से कैसे छुटूंगी ? हे दैव ! अभी मेरे भाग्य में क्या लि़खा है ? तुझे अब तक कितने कष्ट देना है। हे दुष्ट दैव ! जो तेरे जी में आवे सो करना। मैं भी अब हर मुसिबत का सामना करने के लिए तैयार हूँ। प्रणान्ते ! भी शील भंग नहीं करुंगी। पूर्वकृत, अशुभ कर्म की आंधी और तूफान के बीच बचाने वाला अरिहंत ही है। अंतर आत्मा बोल उठी – पगली तूं उन्हें पकड़ ले....ऐसा बल मिल जायेगा....कि तूं आयी हुई

आंधी का आराम से सामना कर पायेगी। क्यों किसी को दोष देती है। ये सब विधाता का खेल है। तेरी किस्मत में यहीं सब लिखा है। उसे समता से सहती जा। महापुरुषों ने सहन किया है। देखती जा आगे क्या–२ हादसा प्राप्त होता है। सोचो कि भूलैया में चक्कर काट रही हो। (प्रगट) कामसेना से तूं जो चाहे सो कर सकती है। लेकिन मेरे शील को भंग नहीं करा सकती है।

कामसेना – (स्वगत) बड़ी तेज तर्रार है बोलने में, इससे तो प्रेम से काम लेना पड़ेगा। पहले मैं इसे मीठे–२ शब्दों से वश में करुं। फिर इसको अपना कार्य सौपूंगी। नयी नयी है। हो सकता है, इसे संकोच हो रहा है। २–३ दिन इसको अच्छा खाना, पीना, कपड़े एश आराम दूंगी। ताकि यह ये सब देखकर लालायित हो जाये तो मेरा भाग्य ही पलट जायेगा। बड़े–बड़े रसिक सेठ आयेंगे और सोने महोर के गले लग जायेंगे। इस परी को हाथ से जाने नहीं दूंगी। (मृगांकलेखा से प्रगट) कितना सुंदर तेरा नाम है। प्यारा, प्यारा। पर मैं तो तुझे सुंदरी ही कहूंगी। चलेगा....तूं स्नान वगैरह करके ये सुन्दर कपड़े पहन ले। फिर अपन शांति से बात करेंगे।

(मृगांकलेखा – स्नान वगैरह करके। कामसेना के पास बैठती है कामसेना मृगांकलेखा का रुप सरसों के फूलों से खिला खिला रुप देखकर मुग्ध हो जाती है। यह रुपसी तो रोज के लाख रुपये कमा लेगी। मैं मालो माल हो जाऊंगी।) मृगांक अब तेरे तन मन के दुःख मिट गये समझना। मन में जो चिंताए हो....जो भी परेशानी हो....सब कुछ बाहर फेंक दो। अब तूं एकदम खुशी में आजा। इस हवेली में तुझे रहना है। तुझे पसंद हो वह खाना, पीना, जो पसंद हो वह श्रृंगार करना। इस हवेली के उद्यान में

सरोवर है। उसमें मनचाही जलक्रीड़ा करना। शरीर पर सुगंधित द्रव्यों का विलेपन करना। आंखों पे अंजन विगैरह लगाना। (मृगांकलेखा बीच में ही बोली)

मृगांकलेखा – पर यह सब क्यों करना। जिसका पति परदेश हो, जो स्त्री दुःख के मारे दर, दर ठोकरें खाती है वे ये सब श्रृंगार, खान, पान, जलक्रीड़ा आदि क्यों करे ?

कामसेना – तुझे मैंने पहले ही कह दिया है की तूं वेश्यापन अंगीकार कर। इसलिए ये सब तुझे करना ही पड़ेगा। (मृगांकलेखा सिंहनी की तरह दहाड़ मारकर)

मृगांकलेखा – अगर ये सब मैं नहीं करुंगी तो तूं क्या करेगी। मैंने तुझे कह दिया। प्राणान्त कंष्ट आने पर भी ये वेश्यावृति नहीं करुंगी। तेरे जी में आवे सो कर लो।

कामसेना – (क्रोध के साथ नौकर से) अरे ला, जल्दी एक रस्सा। बांध दे इसके दोनों हाथ, पैर। देखूं मैं भी सतीपना। (रस्से से हाथ पैर बांधकर) अब क्या कहना चाहती है। याद रख सीधी तरह हमारा कहना मान जा, नहीं तो तुझे बहुत ही कष्ट उठाना पड़ेगा।

मृगांकलेखा – क्या प्राणन्त से भी अधिक ? बस बस। तूं मुझे क्या डर दिखाती है ? मेरे शील को आंच पहुंचाने वाले हैं कौन ? याद रखना ! जब तक मेरे शरीर में प्राण है। वहां तक मेरे शील को खंडन करने के लिए तीन लोक में नहीं है कोई। तुझे जो करना है वह तूं करले। मैं भी देखूं तो सही, कैसे शील खंडित कराती है।

कामसेना – हाँ ! अच्छा देखती हूँ। (और अपने नौकरों से बुरी तरह पिटाई कराती है। इतने में शील के प्रभाव से दुःख देने वाली

क़ामसेना के पेट में शूल रोग उत्पन्न होता है। वो उसी दर्द से रात्री में मर जाती है। सुबह दुसरी वैश्याऐं इकट्ठी होकर कामसेना के स्थान पर मृगांकलेखा को अपनी स्वामिनी मानकर, उसके सामने हाथ जोड़कर खड़ी रहती है)

मृगांकलेखा – (स्वगत) जब ये मुझे अपनी स्वामिनी मानती हैं। तो मैं जैसे कहूँगी वैसा ही इनको करना होगा। मैं तो मन, वचन और काया से शील पालती हूँ। और पालूँगी। परन्तु, इनको भी अधर्म से बचाऊँ। (प्रगट) देखो सुनो ! मेरी आज्ञा है कि कोई भी पुरुष अंदर नहीं आयेगा।

एक वैश्या – अरि ये ऐसा कैसे चलेगा ? यह तो समझाए समझती नहीं है। तो अब क्या किया जाये ? अगर अपन ये वैश्यावृति बंद कर देंगे तो फिर.....अपना गुजारा कैसे चलेगा ? इसकी आज्ञा का पालन तो......नहीं होगा। अपने को कोई दूसरा उपाय ढूँढ़ना होगा। ये ऐसे तो किसी भी तरह मानेंगी नहीं। इसको किसी युक्ति से फँसाना होगा। जैसे मछली पकड़ने के लिए जाल बिछानी पड़ती है, वैसे ही इसके लिए जल बिछाना पड़ेगा। अभी तो अपने को इसकी बात मानने में ही अपनी खैर है। नहीं तो कामसेना सी हालत अपनी हो जायेगी। ठीक है बाईजी आप कहेंगे वैसा ही होगा। (मृगांकलेखा से कहती है।

दूसरी वैश्या – इसका उपाय मैंने सोचा है।

पहली वैश्या – क्या भला ? कौन सा उपाय सोचा है ?

दूसरी वैश्या – (किनारे ले जाकर) सुन मैंने सोचा है कि राजा से चलकर, इसके रुप का वर्णन करें। वह सुनते ही राजा इसको बुलाएगा, बस फिर सब काम ठीक हो जायेगा।

पहली वैश्या – बात तो बहुमत ही ठीक है। अच्छा तो जा देर मत करे। (वैश्या जाती है और राजा की ड्योढ़ी पर पहुंच कर एक कामदार से)

वैश्या – मैं ! राजा साहेब से मिलना चाहती हूँ।

कामदार – ठहर, राजा साहब उद्यान में जाने के लिए तैयार हो चुके हैं। वे अभी इधर से ही निकलेंगे। (अंदर से राजा की सवारी आती है। वैश्या मुजरा करती है)

राजा – (वैश्या से) कहो कैसे आना हुआ ?

वैश्या – महाराज ! हमारे यहां कई दिन से एक....स्त्री आई हुई है।

राजा – हाँ, हाँ ! बड़ी रुपवाली कोई स्त्री आई है। मैंने भी सुना है। जाओ उस स्त्री को अभी पिनस (डोली) में बिठाकर यहां ले आओ।

वैश्या – जी आज्ञा, महाराज !

पहली वैश्या – क्यों क्या बना ? राजाजी ने क्या कहा ?

दूसरी वैश्या – (खुश होकर) बनना क्या था। राजा ने हुक्म दिया है। अभी ही ले आओ। देरी मत करो, राजाजी ने पिनस (डोली) साथ में भेजी है।

पहली वैश्या – (अंदर जाकर, मृगांकलेखा से) उठो चलो। आज आपको राजाजी ने याद किया है। तुम कितनी भाग्यशालिनी हो। तुम्हें राजा ने लेने के लिए पिनस व सैनिकों को भेजा है। यह लो। अच्छे अच्छे वस्त्राभूषण धारण करो और शणगार सजो उठो। आज तो राजाजी की कृपा आप के उपर बरसी है। जल्दी करो,

सैनिक इंतजार कर रहे हैं। अगर देरी की तो राजाजी नाराज हो जायेंगे। और तुम्हारी वजह से हम सभी को दुःख भोगना पड़ेगा। उठो, अब मनुहार मत कराओ। जल्दी तैयार हो जा।

मृगांकलेखा – (स्वगत) हाय ! यह दुष्ट दैव क्यों हाथ धोकर मेरे पीछे पड़ा हुआ है ? क्यों न इसे कुछ दया आती है। हे भगवान, क्या करूं। यहां मैं, अपने को कैसे बचाऊँगी ? राजा को कैसे समझाऊँगी ? क्या राजा समझेंगे ? वहां मेरी कौन सुनने वाला ? अहा, मैंने भवांतर में कैसे–२ पाप कर्म किये हैं ? जो मेरे उदय में एक साथ आये हैं। हे दैव ! मैं जहाँ जाती हूं, वहां तूं मेरी पड़छाई की तरह साथ ही रहता है। क्या तुझे दया नहीं आती है। इस तरह दुःख के उपर दुःख देते हुए। अभी तक कितना कष्ट मेरे भाग्य में लिखा हुआ है ? मैं तन से बिल्कुल ही थक गई हूँ। चार घड़ी भी सुख की नींद नहीं ले पा रही हूँ। पर मन मेरा मक्कम है। आँधी और तूफान, जंझावात सहने को। भले ही मैं काया से सुखकर लकड़ी हो गई हूँ। बस अब तो बुद्धि से काम लेना होगा। देखेंगे आगे क्या होता है। (राजाजी से बचने की युक्तियाँ ढूढ़ने लगी। वैश्या मृगांकलेखा को पकड़कर जबरदस्ती पिनक में बिठाती है। सिपाही उसे उठाकर चल रहे हैं।)

सिपाही – हटो ! आगे से ! (बाजार के लोगों को हटाता हुआ आगे–२ चलता है)

मृगांकलेखा – (स्वगत) इस समय अब मुझे अपने शील की रक्षा के लिए कुछ उपाय करना चाहिए। क्या करुं। (कुछ विचारती हुई) हाँ बस ठीक है। जिस शरीर की सुंदरता से ये लोग मोहित होकर मेरा शील भंग करना चाहते हैं, उस रुप को ऐसा कर डालूं, कि

मेरी तरफ देखने को भी मन न करे। (पीनस में से उठकर बाहर गिर जाती है। और नाली की कीचड़ उठाकर अपने सारे शरीर को लगा लेती है। पागलों की तरह यदा कदा बकती है। और ईंट, पत्थर जो हाथ में आता है। उठा कर लोगों को मारती है।)

वैश्या – (घबराकर) हाय ! हाय ! यह क्या हो गया। यह तो पागल हो गई। (नौकरो से) अरे पकड़ लो, इसे जल्दी से, उसके शरीर को कपड़े से ढ़को। देखो ! उसे कुछ भी भान नहीं है। चलो ले चलो ! वापस ! (नौकर लोग पीनस में डालकर वापस घर ले जाते हैं।)

मृगांकलेखा – (स्वगत) इतना करने से अब तो आपति से बची। लेकिन अभी इस पागलपन को छोड़ना उचित नहीं।

वैश्या – (नौकर से) अरे, अरे दौड़ो–२ जल्दी राजवैद्य को बुलाओ।

नौकर – आपके कहने से पहले ही मैं वैद्य को बुलाकर लाया हूँ। (वैद्य प्रवेश करता है और मृगांकलेखा उसे मारने दौड़ती है। राजा का सिपाही प्रवेश करता है)

वैश्या – भाई तुम क्यों आए ? बोलो ?

सिपाही – तुझे राजा साहेब बुलाते हैं। तूं अभी उस स्त्री को लेकर क्यों नही आयी ? क्यो न दरबार मे हाजिर हुई। चल जल्दी मेरे साथ। राजाजी अभी ही बुला रहे हैं।

वैश्या – अच्छा चलो ! (राजा के पास जाकर हाथ जोड़कर) महाराज ! मैं उसको आपके पास ला रही थी। परंतु रास्ते में, आते आते वह पागल हो गई है। उसे अपने शरीर का भी भान नहीं है। वैद्यों को दिखाया मगर एक भी उपाय नहीं चलता। न जाने उसे कोई भूत चिमड़ा है या चुड़ैल या प्रेत ? कुछ समझ में भी तो

आता नहीं है। एकदम ठीक थी। अच्छी बोल रही थी। आते-२ रास्तें मे ही कुछ हो गया है।

राजा – ऐसा ! अच्छा ठहरो ! (अपने अंगरक्षक कनकबाहु से)

कनकबाहु – महाराज ! आज्ञा ! हाजिर हूँ।

राजा – सुनो यह क्या कहती है ?

कनकबाहु – जी महाराज क्या ! तुम महामंत्र विशारद होकर उसके दोष को दूर नहीं कर सकते हो ? जाओ उसे, भूत-प्रेत, चुड़ैल आदि कोई भी दोष हो, जल्दी निवारण करो।

कनकबाहु – महाराज ! मैं आपकी आज्ञा चाहता हूँ।

राजा – हाँ जाओ शीघ्र जाओ ! (कनकबाहु वैश्या के साथ जाकर मृगांकलेखा को देखकर)

कनकबाहु – (वैश्या से) एक कुमारी कन्या को लाओ।

वैश्या – (एक कुमारी कन्या को लाती है)

कनकबाहु – (एकांत में बैठकर श्री चंद्रप्रभ स्वामी के शासन की अधिष्ठाता देवी, ज्वालामालिनी को कन्या के शरीर में उतारता है) देवी ! सत्य सत्य कह दे कि, इस मृगांकलेखा के शरीर में क्या दोष है। (कन्या के हाथ की ताली से भयानक शब्द होता है, सब लोग डरते हैं)

कन्या – (कनकबाहु से) अरे, वत्स तूं क्या यह समझ रहा है कि, मृगांकलेखा के शरीर में कोई भूत, प्रेत प्रवेश है ? नहीं, नहीं, इसके शरीर में कोई दोष नहीं है। यह सतियों में शिरामणी महासती मृगांकलेखा है। जग प्रसिद्ध सागरचन्द्र की पत्नि, जिन धर्मरता। विमल भाव वाली है। ये महासती, अपने शील की रक्षा के

लिए ये जान बूझकर पागल बनी है। वत्स ! इसकी रक्षा में ही तेरा कल्याण है। नहीं तो सभी का विनाश निश्चित है। इसलिए इसे कोई नहीं सताएगा। तूं इसे अपनी पुत्रीवत् समझना। अब इसको जरा भी दुःख न हो।

कनकबाहु – (कन्या के मुख से दैवी वाणी सुनकर, मृगांकलेखा से) पुत्री ! बस कर ! छोड़ दे इस पागलपन को। अब तूं निश्चिंत हो। किसी बात की चिंता न कर। चल मेरे घर पर, अब किसी बात की चिंता न कर। अब किसी की ताकत नहीं है। जो तुझे बुरी दृष्टि से देख सके।

मृगांकलेखा – आपके समान धर्म वत्सल पिता मिलने पर अब मुझे चिंता किस बात की ?

कनकबाहु – (मृगांकलेखा को घर पर छोड़कर राजा से प्रणाम करके) महाराज ! बड़ा ही अन्याय हुआ है। मृगांकलेखा तो महासती है। उसके शरीर में कोई भूत, प्रेत नहीं। उसने तो अपने शील की रक्षा के लिए, यह प्रपंच किया था। यह देवी ज्वाला मालिनी ने मुझे प्रत्यक्ष होकर कहा है।

राजा – हा ! हा ! उसे बड़ा ही दुःख हुआ। अच्छा जाओ, उसे शीघ्र ही मेरी तरफ से आश्वासन दो, और मेरे अपराध की क्षमा माँगो। और नगर में ढिंढ़ोरा पिटवा दो कि, जो कोई मृगांकलेखा को बुरी दृष्टि से देखेगा, उसे राजा प्राण दंड देगा।

कनकबाहु – जो आज्ञा ! (जाता है)

मृगांकलेखा – (कनकबाहु के घर में अपने आप) हाय कितना दुःख उठाया। अभी तो यहां मुझे शांति मिलेगी। (कनकबाहु के घर में

प्रेम से रहती हुई सभी से हिलमिल गई थी। और धर्मध्यान में समय व्यतीत करती थी। लेकिन अभी भी कर्मों के तूफानों की आंधी बाकी थी।)

दृश्य दूसरा

(स्थान – भयानक अटवी और पल्लीपति)

(मृगांकलेखा – संध्या आरती के लिए जिनालय गई थी। दर्शन आदि करके कुछ समय वहां ध्यान में बैठ गई। नमस्कार महामंत्र का ध्यान पूर्ण करके, वापिस घर लौट रही थी....कि घनी अंधेरी रात थी। अचानक वह रास्ता भूल गई। और जंगलों में चली गई। डरावना जंगल था। सनसनाती हुई सर्द हवा के साथ खड़कते पत्तों की आवाज भी वातावरण को भयानक बना रही थी। निपट अकेली मृगांकलेखा, अनजान रास्ते पर बेहताश दौड़ी जा रही थी। उसे अपने विनश्वर प्राणों की तनिक भी परवाह नहीं था। वह चिंतित थी सिर्फ अपने शील धर्म की रक्षा के लिए। खुद की जिंदगी के प्रति वह बेपरवाह हो चुकी थी। उसकी सारी इच्छा दु:ख में परिणत हो चुकी थी। उसके तमाम सुख दावानल के भट्ठी में जल चुके थे। कुछ देर चलती और कुछ देर दौड़ती, और रुकती हुई आगे मृगांकलेखा भटक गई। रात का दूसरा प्रहर पूरा हो चुका था। वह थक गई थी। कहीं सुरक्षित जगह मिल जाये तो आराम कर लूंगी। ये सोच ही रही थी कि, एक आवाज उभरी कौन है। ज़ो भी हो....वहीं खड़े रहना। जैसे जमीन में से फूट पड़े हों। वैसे अचानक दस, बारह लुटेरों ने आकर मृगांकलेखा को घेर लिया। मृगांकलेखा डर के मारे घुजने लगी। एक लुटेरा आगे

आया....मृगांकलेखा के समीप आकर टुकर टुकर उसे देखने लगा। मृगांकलेखा का रुप का नशा उस पर चढ़ गया था।)

एक लुटेरा – दोस्तों ! हुर है, हुर...यह तो। बिल्कुल परी जैसी है। वाह क्या माल मिला है। अब तो आज रात कहीं नहीं जायेंगे। यहीं पर इसके साथ ही रात बितायेंगे।

दुसरा बोला – चुप मर ! ये परी अपने लिये है नहीं। ये तो अपने पल्लिप्रती को भेंट देंगें। सरदार अपने उपर खुश हो जायेंगे।

पहला – तो ले चलो ! अपने पल्लिपती के पास। (लुटेरों के अगुआ ने मृगांकलेखा का हाथ पकड़ा और मृगांक अपनी मानसिक स्वस्थता को सहज्ज लिया। मृगांकलेखा ने झटके के साथ अपना हाथ छुड़ाकर)।

मृगांकलेखा – खबरदार ! मुझे हाथ लगाया तो। अपने आप मैं चलूंगी। तुम्हारे साथ। (लुटेरे – सभी खुश होते हुए नाचते कूदते हुए मृगांकलेखा को लेकर पल्ली की तरफ अग्रसर हुए। वह स्वस्थ होकर चल रही थी। जिसे मौत का भय नहीं है। उसे फिर फिक्र की बात कैसे हो सकती। पल्ली आ गई, मशालों का प्रकाश था। मृगांकलेखा ने प्रकाश में लुटेरों का स्थान देख लिया। लुटेरा उसे एक मकान में ले गये। वह मिट्टी का बनाया हुआ झोंपड़ा था। मृगांकलेखा ने मकान में घुसते ही पल्लीपती को देखा.....तो पलभर के लिए उसे देखकर ध्रुज उठी। और मन में सोचने लगी। अहा मैं कैसे क्रूर बघेरे के घर पहुंच गई। पल्लीपती दिखने में इतना भयंकर था। उसके शरीर पर रीछ के जैसे बाल ऊगे थे। और शरीर मोटा व स्थूल था। और शरीर पर एक काला कपड़ा लपेटा हुआ था। उसकी आंखें बड़ी ही डरावनी थी। उसके समीप

ही खून से सनी तलवार पड़ी थी। एक मैली सी गोदड़ी पर करवट के बल लेटा हुआ था। लुटेरों के साथ रुपसी औरत देखकर वह तुरंत उठ बैठा।

पल्लीपति – अरे वाह ! दोस्तों.....यह क्या चीज ले आये हो। आप।

पहला व्यक्ति – मालिक जंगल में से मिली है......हमको.....हम ने।

पल्लीपति......वाह.....परी है परी....देवलोक की अप्सरा..से भी ज्यादा सुंदर लाये हो। आपके लिये सरदार।

पल्लीपति – (आंखें फाड़कर जैसे मृगांकलेखा को कच्ची ही निगल जाने वाला हो उस तरह घूर रहा था। मृगांकलेखा नीचे नजर किये खड़ी थी।) सचमुच ही परी है। मैं इसे अपनी पत्नी बनाऊँगा। (चारो लुटेरों को) जाओ आज जो चोरी में माल मिले वह तुम्हारा ही है। आज तुम लोग आनंद करो। (सभी लुटेरे.... आज बहुत ही खुश होते हुए....नाचते कूदते चले जाते हैं)

पल्लीपति – (मृगांकलेखा से) देख परी....मैं इस पल्ली का मालिक हूँ...तुझे मैं अपनी पत्नी बनाऊँगा। तू मेरी रानी बनेगी....इस पूरे इलाके की वाह फिर तेरे संग क्या मजा आयेगा।

मृगांकलेखा – तेरा मुंह बंद कर और मेरे से दूर खड़े रहना। यदि खैरियत चाहता है तो। (मृगांकलेखा ने घुड़कते हुए कहा)

पल्लीपती – तुझे मालूम है री छोकरी तूं किसके साथ बात कर रही है ?

मृगांकलेखा – हाँ....हाँ भलिभांति जानती हूँ। मैं चोर लुटेरों के सरदार से बात कर रही हूँ।

पल्लीपती – अरि छोकरी ! तुझे मेरी बात मानना होगा।

मृगांकलेखा – अगर तेरी बात नहीं मानूंगी तो ?

पल्लीपती – इसका परिणाम बहुत ही बुरा आयेगा।

मृगांकलेखा – परिणाम की तो मैं परवाह भी नहीं करती हूँ।

पल्लीपती – तब तो मुझे जबरन तेरे पर काबू पाना होगा....। मैं तेरे रुप को अभी कुचल डालूंगा। अपने हाथों...(और पल्लीपती मृगांक को अपने बाहु में भरने के लिए आगे बढ़ता है। मृगांकलेखा चार–छःह कदम पीछे हट जाती है)

मृगांकलेखा – अरे दुष्ट ! पीछे हट। तूं मेरे शील को नहीं लूट सकता, पागल...जहाँ खड़ा है, वहीं रहना.....वर्ना।

पल्लीपती – ओहो.....मेढ़की को भी जुकाम होने लगा...अरी क्या करेगी तूं ?

मृगांकलेखा – मैं क्या करुंगी, यह जानने की तुझे बेसब्री है ?

पल्लीपती – अरे छोकरी ! हो....हो.....हो.....यहाँ पर राजा मैं हूँ। जो मैं चाहता हूँ। वो यहां पर होगा। समझी ? सीधे ढंग से मेरे वश में हो जा....नहीं तो मुझे हार मानकर इस सुंदर मुखड़े को खून से नहलाना होगा। हूँ.....हूँ...समझती क्या है। छोकरी, मैं तेरा सर उतार कर रख दूंगा। धड़ पर से...।

मृगांकलेखा – ऐसा डर किसी और को बताना....कायर ! यदि ताकत हो तो उठा अपनी तलवार और कर प्रहार।

पल्लीपती – अच्छा ! इतनी हिम्मत है तेरी......।

मृगांकलेखा – अरे ! ताकत हो तो बक, बक किये विगैरह उठा अपनी तलवार। और कुछ कर दिखा ओ डरपोक।

(पल्लीपती गुस्से में आपे के बाहर हो गया। वह तलवार खींचकर मृगांकलेखा के तरफ लपका। मृगांकलेखा.....आस पास के वातावरण

.से परे हट कर नमस्कार महामंत्र का ध्यान करने लगी। और ध्यान में लीन हो गई। उसके इर्द गिर्द तीव्र प्रकाश का एक वर्तुल खड़ा हो गया। कुछ पल बीते या न बीते इतने में तो एक दिव्याकृति प्रकट हुई। पल्लीपती तो यह सब देखकर हक्का बक्का रह गया। उपर उठी तलवार ज्यों की त्यों लटक गई। दिव्याकृति – आगे बढ़ी और पल्लीपती के सीने पर कड़ा प्रहार किया)

देवी – (दिव्याकृति से एक दिव्य आवाज उभरी) अरे दुष्ट ! नराधम ! इस महासती पर प्रहार करना चाहता है ? मैं तेरी जान ले लूंगी। (पल्लीपती जमीन पर लुढ़क गया.....उसकी तलवार दूर उछल गई.....उसके मुंह से खून आने लगा......पूरा शरीर पसीने से तरबर हो गया। उसकी आंखें फटी फटी रह गई। भय...त्रास..व पीड़ा से वो चीख उठा।) मुझे बचाओ....मैं तुम्हें अपनी माँ मानता हूँ। मेरी.......माँ.......बचाओ।

(देवी ने मृगांकलेखा के सर पर हाथ रखा। मृगांकलेखा महामंत्र के ध्यान मे लीन थी। सर पर देवी का हाथ व दिव्याकृति देखकर उसने आँखें खोली। उसे हर्ष का पार नहीं। उसने देवी को प्रणाम किया और दिव्याकृति अदृश्य हो गई। मृगांकलेखा ने पल्लीपती को देखा। वह वेचारा डर के मारे आंधी में पते की तरह कांप रहा था। उसके मुंह में से अब भी खून बह रहा था। खड़े रहने की भी उसकी ताकत नहीं थी।)

पल्लीपती – (बड़ी मुश्किल से) माँ....! माफ करो मुझे, मेरी बड़ी गलती हुई। तुम तो साक्षात जगदम्बे हो। तुम्हारी करुणा से ही मैं जीवित बच गया। माँ........नहीं तो, वर्ना मर जाता....जाओ माँ....तुम्हें जाना हो वहाँ जाओ.....माँ......तुम तो महासती हो।

मृगांकलेखा – (कुछ क्षण उसे देखकर बाहर निकली...रात का तीसरा प्रहर पूर्ण हो चुका था। चाँद भी ऊग आया था। आकाश की तरफ एकपल देखकर, वह आगे बढ़ी। और जंगल का रास्ता लिया।

पल्लीपती – (अपने लुटेरों पर आग बबूला हुआ बरस पड़ा) दुष्टों तुम किसे ले आए थे यहाँ ? जानते हो ? (बेचारे लुटेरे तो पल्लीपती का इतना खौफनाक रुप देखकर सकते में आ गए थे।) वो तो साक्षात् जगदम्बे थी। तुम्हारे पापों से तो आज मैं मर ही जाता.....भला हो उस जगदम्बे.....माँ का, उसने मुझे बचाया.... पापियों, अब कभी भी किसी औरत को हैरान मत करना। किसी की इज्जत पर हाथ मत डालना। वर्ना मैं तुम्हें एक एक को काटकर धरती में गाड़ दूंगा।

सभी लुटेरे – (हाथ जोड़कर) आपकी आज्ञा सिरोधार्य है। आईन्दा से हम ऐसा कार्य भविष्य में नहीं करेंगे। (जब पल्लीपती ने सारी घटना सुनाई तो थर थर....काँपने लगे....और आगे से किसी औरत को परेशान न करने की कसम खा ली।)

(मृगांकलेखा......जंगल से गुजरते–गुजरते उसी राह पर पहुंच गई जहां से वह....अंधकार से रास्ता भूल गई थी। प्रातः वह देवालय में जाकर स्नान विगेरे करके देवाधिदेव की पूजा करके बाहर आकर कुछ क्षण विश्राम लेने को रंग मंडप में बैठ गई। और अपने भविष्य के बारे में सोचने लगी। कुछ देर के बाद मन को शांत करके वापिस कनकबाहु के घर जाती है। और रात वाली सारी घटना सुनाती है। कनकबाहु भी उसकी घटना सुनकर सर धुनता है। और हमदर्दी जताता है। उसे मीठे वचनों से शांत करता है।)

कनकबाहु – बहन कर्म के सामने किसी का भी जोर नहीं चलता है। किये कर्म तो भुगतने ही पड़ते हैं।

"हंसता ते बांध्या कर्म, नबी ओलख्यां जिन धर्म।"
"आं छे लाल, रोता न छुटे प्राणीयाँ जी।।"

बहन ये जीव, हँसते–२ कर्म बंधन करता है। लेकिन उदय में आता है। तब रोते हुए भी नहीं छुटते। इसलिए बहन तूं धैर्य धारण कर और समय का इंतजार कर।

दृश्य तीसरा

(स्थान – कुंदनपुर नगर, वैश्रमण सेठ का घर, और उसकी दुकान)

वैश्रमण – (अपनी स्त्री से) धनवती क्यों रोती है।

धनवती – वही रोना रोती हूँ। जो कर्मों में लिखा है। मरा हुआ पुत्र जन्मा है।

वैश्रमण – अरि ! चुप, चुप ! यह ले देख, मैं अभी बाहर जंगल गया था। वहां कपड़े में लिपटे हुए बालक को कुत्ता अपनी मुंह में दबाया हुआ जा रहा था। मुझे देखते ही, वह कुत्ता डर गया। और उसके मुंह से ये गिर पड़ा मैं उठा लाया हूँ। देख कैसा सुन्दर कांतिवाला बालक है। ले तूं इसको तो ले। और उस मरे हुए बालक को बाहर फेंकवा दे। मैं नगर में प्रसिद्धि करता हूँ। मेरे घर पुत्र का जन्म हुआ है।

धनवती – (लड़के को लेकर) बहुत ही अच्छा। (वैसे ही करती है)

वैश्रमण – (अपने मुनिम से) मुनिमजी आज बड़ा ही आनंद का दिन है। मेरे घर पुत्र का जन्म हुआ है। तमाम नगर में महोत्सव

होना चाहिए। और नगर में, अमारी पड़ह बजवा दो। याने किसी जीव की हिंसा होने न पावे। और जिनालय में अट्ठाई महोत्सव शुरु करवादो। अधिक से अधिक खर्चा करके नगर को पूरा शणगार दो। और महोत्सव मनाओ।

मुनिम – जो आज्ञा ! जी बहुत अच्छा। (नगर में रंगारंग नाटक होते हैं। बाजे बजते हैं। पुत्र होने की खुशी में लाखों रुपये खर्च करके बारहवें दिन सबको प्रीति भोजन कराके, पुत्र का नाम "सुरेन्द्रदत्त" रखा।)

वैश्रमण – (धनवती से) प्रिये ! देखो जिस दिन से अपने घर 'सुरेन्द्रदत्त' आया है। उस दिन से हम सब बात से सुखी हुए हैं। तुझे भी मरे हुए पुत्र होते थे। वह भी तेरा दोष हट गया। यह भी इसी के ही आने का प्रभाव मानना चाहिए।

धनवती – हाँ। बात तो इसी तरह से है। थोड़े ही समय में, याने बाल्यकाल भी पुरा नहीं हुआ कि इसने सारी कलाएँ सीख ली। और बहुत ही विनयवान है।

वैश्रमण – इसमें क्या कहना है। बड़ी विलक्षण बुद्धि है। अभी तो विद्या अभ्यास ही करता है। परंतु न जाने व्यापार में इसने इतनी निपुणता कहाँ से प्राप्त की है। कुछ समझ में नहीं आता है। जो नगर के लोग भी देखकर चकित होते हैं। प्रिये ! अब कुछ वर्ष से ये युवा अवस्था को प्राप्त होने लगा है। इसके लिए योग्य कन्या ढूंढ़नी चाहिए। अभी से देखेंगे तब कहीं जाके, सुंदर सुशील संस्कारी कन्या मिलेगी।

धनवती – नहीं, नहीं। अभी नहीं। (स्वगत) हाय, हाय। मेरी कूख से पैदा हुए दोनो पुत्रों की कोई भी कदर नहीं है। और इस

'सुरेन्द्रदत्त' की जहाँ देखो, वहां पूछ हो रही है। राज दरबार में तो 'सुरेन्द्रदत्त', 'सुरेन्द्रदत्त' ही करते हैं। व्यवहार में देखो तो भी 'सुरेन्द्रदत्त' मेरे पुत्रों का तो कोई भाव भी नहीं पूछते। घर के नौकर, चाकर, मुनिम, मुसाहिब सब ही 'सुरेन्द्रदत्त', 'सुरेन्द्रदत्त' ही करते हैं। इस में ऐसी कौन सी विशेषता है। हर एक बात में सभी उसी से सलाह, सम्मति लेते हैं ? किसे कहूँ ? मेरा पति भी तो 'सुरेन्द्रदत्त' का ही गुण गाता है। हाय ! यह मेरे से तो नहीं देखा जाता है। इसके होते हुए मेरे पुत्र नहीं जैसे ही रहेंगे। इसलिए 'सुरेन्द्रदत्त' को मारकर अपने पुत्रों को सुखी करुं। 'सुरेन्द्रदत्त' कौन सा मेरी कुक्षी से जन्मा हुआ है। सो सब मैं, अपने पुत्र को छोड़कर इसके लिए क्यों करुं। न जाने किसकी कुक्षी से पैदा हुआ है। बस आज ही इसको ठिकाने लगाती हूँ। (दासी से) अरि वसंती ?

वसंती – जी हाँ ! क्या आज्ञा है सेठानी जी।

धनवती – यह ले दुकान पर, लड़के सबेरे से गए हुए हैं। उनको भूख लगी होगी। खाने के लिए लड्डू बनाये हैं। सो ले जा।

वसंती – जी, बहुत अच्छा।

धनवती – (तीन लड्डू देकर) सुन ! यह जो बड़ा लड्डू है। वह सो तो 'सुरेन्द्रदत्त' को देना। और ये छोटे लड्डू एक–२ दोनों छोटे भाइयों को देना। (दासी लड्डू लेकर जाती है)

सुरेन्द्रदत्त – (दासी से) अरि, क्यों क्या लाया है ?

वसंती – आपके लिए माताजी ने खाने को भेजा है। सो लाई हूँ।

सुरेन्द्रदत्त – अरे ! मुझे तो इस समय थोड़ा काम है। उस आले में रख दे। मैं थोड़ी देर से खालूंगा।

दोनों भाई – भाई ! हमें तो भूख लगी है।

वसंती – आओ ! आओ मैं तुम्हारे लिए भी लाई हूँ। लो तुम तो ले लो। (दासी दोनों को लड्डू देती है। और बड़ा लड्डू आले में रख देती है। दोनों छोटे भाई अपने हिस्से का लड्डू खाकर, बार बार सुरेन्द्र के लड्डू की तरफ देखते हैं।)

सुरेन्द्रदत्त – (दोनों भाइयों से) क्यों भाई ? क्या है। यदि भूख है तो वो लड्डू भी ले लो। मुझे अभी भूख नहीं है। (बड़े भाई का हिस्से का लड्डू दोनों भाई आधा, आधा बांटकर खा लेते हैं। और....थोड़ी देर....में दोनों भाई....बेहोश होकर गिर जाते हैं। और....तत्काल ही कुछ देर तड़फ.....कर मर जाते हैं। दुकान के सभी, मुनिम, नौकर आदि घबराते हैं। सुरेन्द्रदत्त रोता है)

वैश्रमण – हाय ! यह क्या हो गया। दोनों की एक साथ मृत्यु ? एक ही तरह से कैसे ? बस बस जान लिया। जान लिया। यह कुल कारबाई, पापिनी धनवती की है। इसने सुरेन्द्रदत्त को मारने के लिए ही यह काम किया है। लेकिन उसके पाप का फल उसे मिल....ही गया है। (सुरेन्द्रदत्त से) वत्स तूं क्यों उदास होता है। सुन मेरी बात। अब तूं बेटा शीघ्र ही यहां से अन्यत्र चला जा। क्योंकि तेरी माता तेरी वैरन हो....रही है। वह....तुझे.....मार देगी।

सुरेन्द्रदत्त – (चकित होकर) पिताजी ! आप यह क्या बोलते हो। क्या कभी भी अपनी माता.....पुत्र का....अहित.....कर सकती है।

वैश्रमण – हाँ हाँ। मैं ठीक कहता हूँ। ले इधर आ। (एकांत में जाकर कहता है) ले सुन मेरी बात......वत्स....तू उसकी.....कुख...से पैदा नहीं हुआ है। (सब बात सुनाता है)

सुरेन्द्रदत्त – हाँ क्या ऐसी बात है ? (स्वगत) बस बस...अब तो जब तक मेरे जन्मदाता.....माता....पिता....मिलेगे तब ही....मुझे चैन होगा। माता–पिता का.....पता....न मिलेगा तो.....मुझे चैन कहाँ है। (वैश्रमण से) अच्छा पिताजी ! अब आप मुझे आज्ञा दीजिए। और मुझे आपसे कुछ नहीं चाहिए।

वैश्रमण – अंगूठी देकर। वत्स जिस समय मैंने....तुझे कुत्ते के मुख से गिरने से उठाया था। तब जिस वस्त्र में तूं लिपटा हुआ था... उसके एक किनारे यह अंगूठी बंधी हुई थी।

सुरेन्द्रदत्त – (अंगूठी देखकर) तात ! इस अंगूठी पर तो सागरचन्द्र का नाम उभरा हुआ है।

वैश्रमण – हाँ, इसी से मैं अनुमान करता हूँ, कि तेरे पिता का नाम 'सागरचन्द्र' होना चाहिए। अब तुझे जितना द्रव्य चाहिये। उतना तूं......लेकर यहाँ से व्यापार के बहाने ताम्रलिप्ती.....नगर में तूं...जा।

सुरेन्द्रदत्त – आप योग्य कहते हो। यही बात ठीक है। अच्छा तो मुझे कुछ धन दीजिए।

वैश्रमण – जितना चाहिए उतना लेले। संकोच मत कर, सब तेरी ही कमाई है।

सुरेन्द्रदत्त – (आँखों में आंसू लाकर) आप मुझे भुलना मत, पिताजी ! आपका उपकार तो मैं.....जीवन पर्यंत नहीं भूलूंगा। (वैश्रमण समझाकर धीरज देता है। और बहुत सा द्रव्य देकर 'सार्थवाह' बनाकर 'सुरेन्द्रदत्त' को रवाना करते हैं। सुरेन्द्रदत्त भी सागरचन्द्र की खोज करता हुआ ताम्रलिप्ती नगर में पहुंचता है।)

दृश्य चौथा

(स्थान – ताम्रलिप्ती नगरी – श्री ऋषभदेव का मंदिर)

सुरेन्द्रदत्त – (अपने साथ के उपनायक, 'गुणचन्द्र' से) बंधु ! यह ताम्रलिप्ती नगरी है। मैं यहां कुछ दिन ठहरना चाहता हूँ। सार्थ के लोगों का योग्य बंदोवस्त करना, मैं तुम्हारे जिम्मे डालता हूँ। और मैं तीन दिन तक तुम से नहीं मिलूंगा।

गुणचंद्र – बहुत अच्छा ! आप पधारिए, सार्थ की तरफ से आप निश्चिंत रहिए।

सुरेन्द्रदत्त – मुझे विश्वास है। तुम्हारे ऊपर। (फिर स्नान कर, पूजा सामग्री साथ लेकर, भगवान ऋषभदेव के मंदिर में प्रवेश करता है। प्रभु की पूजा सेवा करके चक्रेश्वरी....देवी के सामने, तीन दिन का उपवास...व्रत लेकर, आसन......लगाकर जप....में बैठ गया।)

चक्रेश्वरी – (तुष्मान् होकर, तीसरे दिन सामने आकर) वत्स....उठ खड़ा हो जा। सुन मेरी बात। धर्म के प्रताप से तेरा पिता 'सागरचन्द्र' और माता 'मृगांकलेखा' सिद्धार्थपुर में प्रियमेलक उद्यान में तुझे मिलेंगें। तूं अब किसी....बात की चिंता मत कर। अब जा यहाँ से सीधा सिद्धार्थपुर नगर में।

सुरेन्द्रदत्त – (हाथ जोड़कर) माता जो आपने कहा....वह तो सत्य होगा.....मुझे इसमें जरा भी संदेह नहीं है। परंतु.....वहाँ मैं, यह मेरी माता है, यह मेरे......पिता हैं। इसमें प्रत्यय क्या ? और कितने दिनों के बाद मेल होगा।

चक्रेश्वरी – वत्स ! प्रत्यय क्या.....इसमें प्रत्यय यही है कि, तुझे

देखकर जिसके स्तनों से........दूध.......की धारा बहे वही तेरी माता। और वहाँ पर लोग अपने आप.......कहने लगे कि, यह तुम्हारे पिताजी हैं। तब तूं समझ लेना कि, ये ही तेरे पिताजी हैं। और एक माह के बाद तुझे तेरे.....माता–पिता का मिलाप होगा। अब तुझे किसी बात की चिंता नहीं रहेगी। (इतना कहकर चक्रेश्वरी अर्न्तध्यान होती है। सुरेन्द्रंदत्त खुश होता हुआ सार्थ में आकर पारणा करता है)

दृश्य पांचवा

(स्थान – उज्जैन नगर, राजा का दरबार,
सागरचन्द्र का भवन, मृगांकलेखा का निवास गृह)

प्रधान – (कोतवाल से) रक्षपाल !

कोतवाल – जी महाराज !

प्रधान – क्या तुम्हें कोइ कुछ समाचार नहीं मिले ?

कोतवाल – जी हजूर ! मुझे बड़े ही आनंद का समाचार मिला है कि, राजाधिराज महाराज.....लाट देश के राजा को जीतकर, आज नगर के बाहर आकर पड़ाव करेंगे।

प्रधान – फिर तुमने क्या किया ?

कोतवाल – हजूर ! तमाम्र नगर ध्वजा पताकाओं से सजाया जा रहा है। राजमहल के उपर विजय पताका चढ़ा दी गई है। खूब महोत्सव मनाया जा रहा है। नगर निवासी लोग भी बाजार, हाट, हवेलियां, तोरणादि से सजा रहे हैं। विशेष आपकी आज्ञा क्या है?

प्रधान – देखो, देखो कैरव आ रहा है।

विदूषक – आ न जाता तो क्या, वहीं बैठ जाता ?

कोतवाल – नहीं, नहीं यह मेरा कहना नहीं है। मेरे कहने का मतलब तो यह है कि, हम लोग राजा साहेब को ससैन्य बड़े महोत्सव के साथ प्रवेश कराना चाहते हैं

विदूषक – और मुझे बिना *महोत्सव के, मैं तुम्हारे पेट की अच्छी* तरह जानता हूँ। (स्वगत) हाय, हाय मैं पहले क्यों आया ? राजा साहेब के साथ आया होता तो मुझे भी सब लोग देखते। इस वक्त तो किसी ने झांका तक भी नहीं। अच्छा क्या हुआ। अभी वापस जाने की तदबीर लड़ाता हूँ। (प्रगट) भाई मैं तुम लोगों को कहने ही आया हूँ। अच्छा अब मैं जाता हूँ। तुम लोग जल्दी आओ, हम लोगों के सामने। (और वहाँ से चला जाता है। प्रधान कोतवाल आदि नागरिक लोगों के साथ राजा के सामने जाते हैं। राजा साहेब बड़े महोत्सव के साथ नगर प्रवेश करते है। सभी लोग दरबार में उपस्थित होते हैं। राजा भी सिंहासन पर बैठते हैं। जयनाद से पूरी सभा गूँज उठती है)

राजा – मेरी समस्त प्रिय प्रजा को मालूम होवे कि, मैं जिस शत्रु को जितने के लिए लाट देश पर चढ़ाई करने गया था। उसको परास्त करके जो विजय प्राप्त की है। वह सब आप लोगों का ही पुण्य प्रताप है।

(सबलोग हर्षनाद करके राजाजी को प्रणाम करते हैं)

सागरचन्द्र – महाराज ! मैं घर जाने की आज्ञा चाहता हूँ।

राजा – हाँ, हाँ। खुशी से जाओ। अपने चिरकाल वियोगिजनों के चित्त को शांत करो।

(सागरचन्द्र के जाते ही सभी दरबारी लोग जाते हैं। सागरचन्द्र घर में प्रवेश करता है)

चेटी – (दौड़कर पद्मावती से) आर्य आ गए माताजी।

पद्मावती – (आगे आकर) बेटा ! (आनंद के आंसू दोनों के आंखों में बहते हैं। दोनों ही बोलने में कुछ समय असमर्थ हो जाते हैं। कुछ देर से आंसूओं का वेग कम हुआ तब दोनों बातें करने लगे।)

सागरचन्द्र – (चरणों में गिरकर नमस्कार करके) माँ ! पिताजी कहाँ पधारे हैं ?

पद्मावती – बेटा तेरे आने का समाचार सुनकर, वे तुझे सामने लेने को गए हैं। क्या तेरे पिताजी तुझे सामने नहीं मिले ?

सागरचन्द्र – नहीं माँ ! मुझे रास्ते में नहीं मिले। मैं दरबार से सीधा ही आ रहा हूँ।

जनार्दन – महाराज ! आगए, आगए, पिताजी ! (सागरदत्त से) पधारिए महाराज ! इधर हैं, आर्य सागरचन्द्र। (सागरचन्द्र पिताजी को देखकर सामने दौड़कर चरणों में गिरता है)

सागरचन्द्र – पिताजी आप आनंद में हो ? आप कुशल पूर्वक हो?

सागरदत्त – तुझे देखकर....तूं तो आनंद में रहा ?

सागरचन्द्र – आपके प्रताप से। (थोड़ी देर पिताजी के साथ बातचित करके, मृगांकलेखा के महल की तरफ प्रवेश करता है)

पद्मावती – (स्वगत) हैं ? यह क्या ? ये तो मृगांकलेखा के महल की तरफ जा रहा है। क्या सचमुच मृगांकलेखा ने सत्य कहा था। हे भगवान ! अब मैं क्या करुं ? (विचार में पड़ती है) मैं अपने पुत्र को क्या जबाव दूंगी ?

सागरचन्द्र – (मृगांकलेखा के भवन को शुन्य देखकर, स्वगत) हैं यह क्या। नेत्रहीन मुख के समान, चंद्रमा के किरणों से शून्य गगन के समान यह भवन क्यों प्रतीत होता है। क्यों मेरी प्राण प्यारी 'मृगांकलेखा' दिखाई नहीं देती। हाय प्रिये ! तूं कहाँ है ? क्या तूं किसी प्रयोजन से पिता के घर तो नहीं गई ? हाय, हाय, मेरा दिल क्यों धड़क रहा है। मेरे दिल में बुरे विकल्प क्यों उत्पन्न होते हैं। क्या विधाता ने और ही अधटित घटना तो नहीं की ? हाय, मैं कहाँ ढूंढू, मेरे आंखों के सामने अंधेरा क्यों छा रहा है ? (उसके आंखों से आंसूओं की धारा बहती है। कुछ देरी से स्वस्थ होकर। माँ से) हे माँ ! (दोनों हाथों से अपना सर पकड़कर जोर से चिल्लाता है)

पद्मावती – (दौड़कर) क्यों बेटा क्या हुआ ?

सागरचन्द्र – माँ, माँ, मुझे जल्दी बता मेरे मनरुप कुमुद को प्रफुल्लित करने वाली मेरी प्रिय.....मृगांकलेखा.....कहाँ पर है। माँ मुझे....ब.....ता......कहाँ पर है ?

पद्मावती – (स्वगत) हाय, हाय, इसे क्या उत्तर दूँ ? न जाने अब क्या होगा ? (ढ़िठाई पकड़कर) अरे पुत्र ! तूं किस पापिनी का नाम लेता है। अरे वत्स ! ऐसी दुष्टा का तो नाम लेने से भी पाप लगता है। तेरे जाने के बाद उस पापिनी, उभयकुल कलंकिनी ने न जाने कहाँ से, कहाँ से, मेरी तो कहते जबान भी नहीं चलती है। उसने गर्भ धारण किया। उसके इस अपकृत्य से हमने उसे तत्काल घर से बाहर निकाल दिया है। उस दुष्टा को, उसके पीहर वालों ने भी उसे घर में घुसने नहीं दिया। वत्स ऐसी नीच औरत को कौन अपने घर में रखे ? वह अपनी सखी को साथ लेकर न जाने कहाँ गई है ? पूरी नगर में इस दुष्टा ने हा, हा मचा दिया, इस पापिनी

के बारे में, मैं तुझे ज्यादा क्या बताऊँ ?

सागरचन्द्र – हाय प्रिये ! हे दुष्ट दैव ने तेरे साथ क्या किया ? (और एकदम मुर्छित होकर जमीन पर गिर जाता है)

पद्मावती – (घबड़ाकर) अरे, दौड़ो, दौड़ो, जल्दी आओ, देखो इसे क्या हो गया है। (सागरचन्द्र का मस्तक अपने गोद में लेकर) बेटा ! सागरचन्द्र, ओ सागरचन्द्र !

(सागरदत्त पास में बैठकर) बेटा ! जनार्दन पंखे से हवा डालो।

सागरदत्त – अरे जनार्दन इसके मुंह पर गुलाबजल छांटो।

(दासी दौड़कर गुलाबजल लाती है। और उसके मुंह पर छांटती है)

सागरचन्द्र – (होश में आकर, छातीफाट, करुण रुदन करता है) हाय, माँ ! तूं ने यह क्या अनर्थ किया ? (छाती पर हाथ रखकर, स्वगत) हे कृशांगि ! हे प्रियतमे ! अब मैं क्या करुं ? कहाँ जाऊँ? हाय मैं अब तुझे कहाँ पाऊँगा ? (दोनों हाथों से अपना सर पीटकर) अरे रे ! प्रियतमें, मैंने उसदिन तेरे कहने पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। हाँ प्रिये तूं कहाँ पर है ? तूं ने मुझे बहुत ही समझाया था कि, आप अपने आने का समाचार, माता–पिता से कहते जाओ। परंतु मेरी बुद्धि में उस समय न जाने कौन सा पत्थर पड़ गए ? कुछ समझ में नहीं आ रहा है। (माता से) क्या माँ, यह बताओ कि उसने मेरे नाम की अंगूठी नहीं बताई। सच, सच बताओ माँ, मेरा हृदय उसके बिना तड़फ रहा है। माँ जल्दी बताओ।

पद्मावती – बेटा अंगूठी तो उसने दिखाई थी। परंतु मैंने सोचा

कि हो न हो, वह अपना परदा छिपाने के लिए किसी प्रकार चोरी से प्राप्त करली होगी। और मैंने उसकी बात का कुछ ध्यान भी नहीं दिया।

सागरचन्द्र – (दांत पिसकर) माँ, ऐसे अनुमान करते वज्र क्यों न पड़ा। (अपना सिर दिवार से फोड़ता हुआ) हाय, हाय, ओ मेरी माँ, मेरे हाथ की अंगूठी देखकर भी आपको विश्वास नहीं हुआ। हाय, हाय, माँ तूं ने ऐसा क्यों किया ? विचारी निरापराधिनी के उपर कलंक लगाकर घर से भी बाहर निकाल दी। माँ, उस महासती के साथ बड़ा ही अन्याय हुआ ! हाय, जब मैं, उसपर कुपित था तो उसने इक्कीस वर्ष पर्यंत अपार दुःख सहा। और मैं ? उसके उपर खुश हुआ तो भी उसे दुःख उत्पन्न हुआ। हाय, अब मैं क्या.....करुं, मेरा......जीवन ही बरबाद हो गया है। हे वन देवताओं ! माता–पिता के घर से, वह सास–श्वसुर के घर से निकाली हुई, उस महासती "मृगांकलेखा" की रक्षा करना। उस शुन्य जंगल में उसका क्या हाल हुआ होगा ? उज्जड़, भयंकर अटवी में उसके गर्भ का क्या हुआ होगा। (पत्थर दिल भी पसीज जाये ऐसा दारुण रुदन सुनकर घर के वृद्धजन विगेरे.....उसे समझाते हैं)

वृद्धजन – हे वत्स ! कुछ विचार कर ! और धीरज धर, हे सागरचन्द्र तूं इतना समझदार होकर इस प्रकार क्या कर रहा है। जो हो गया सो गया। अब तूं उसके लिए क्या करता है। क्या इस प्रकार रोने.....और.....विलाप करने से क्या वह मिल जायेगी ? अब इस सोच विचार और विलाप में क्या पड़ा है। अब तूं उठ.....और भोजन कर। मृगांकलेखा जैसी एक नहीं 10 खड़ी कर लेंगे। देख तेरे माता–पिता की क्या हालत हो रही है। तेरे कारण, तुझे पता

नहीं है। बेटा ! यह एक कुलटा व्यभिचारिणी नारी थी। ऐसी दुष्टा के लिए तूं क्यों रुदन करता है। और अपने माता–पिता को भी दुःखी करता है।

सागरचन्द्र – (रोषपूर्वक) बस करो.....बस करो.....आप कृपा कीजिए। मैं आप लोगों के सामने हाथ जोड़ता हूँ। रहने दीजिए, आपके इन उपदेशों को मुझे....नहीं सुननी है। ये बातें तुम्हारी, बस अब तो जब तक "मृगांकलेखा" का पता नहीं लगाऊँगा। और उसे.....नहीं देखूंगा.....तब तक मैं......इस घर में पैर न रखूंगा। (इतना कहकर धनुष वाण लेकर घर से निकल जाता है। मात–पिता उसे रोकने का भरसक प्रयत्न करते हैं। लेकिन सव प्रयत्न निष्फल जाते हैं।

दृश्य छट्ठा

(स्थान – हैडम्ब वन, भयानक जंगल, उज्जड़ अटवियाँ)

सागरचन्द्र – (स्वगत) हाय प्रियतमे ! तूं कहाँ गई ? तेरे साथ क्या–२ बनाव बना। अब मैं......तूं.....तू.....तुझे.....मैं कहाँ ढूंढू ? बता मेरी प्रिय......तूं मुझे कहाँ मिलेगी ? (पागलों की तरह जंगल में दौड़ता है। मार्ग में आते, जाते राहगिरों से, अरे भाई....खड़े रहो।

राही – क्यों क्या बात है ? हमें क्यों रोकता है ?

सागरचन्द्र – तुमने मेरी प्राण से भी प्यारी, प्रियतमा मृगांकलेखा को तो नहीं देखा ? बताओ तुम जल्दी बताओ......मेरी प्रिया कहाँ है ? सच, सच, बता दो नहीं तो आज तुम्हारी खैर नहीं है। मैं सागरचन्द्र.....तुम्हें छोडूंगा नहीं। ध्यान रखना...कहाँ छुपाई मेरी प्रियतमा को, बताओ.....जल्दी बताओ।

राही – (डरता हुआ) नहीं महाराज ! हमने किसी ने भी तुम्हारी

प्रियतमा "मृगांकलेखा" को नहीं देखी। हम सच, सच कहते है। कि, हम नहीं जानते महाराज ! क्षमा करें। हमको छोड़ दो...हमने कहीं भी नहीं देखी है।

(सागरचन्द्र पागल बना हुआ पर्वतों पर, गुफाओं में, झाड़ियों में, नदी नालियों और खाही में देखता हुआ जंगल में भटकता है। न उसके कपड़ों के ठिकाने......सर पर बाल दाढ़ी मुंछ आदि इतने बढ़ गये, दिखने में बड़ा ही भयंकर लग रहा था। भूखा प्यासा, जो मिलता उसे, ये मेरी.........प्रियतमा है। ये...मेरी मृगांक...लेखा है। उन्मत बना हुआ कभी रोता है। तो कभी कभार खड़ खड़ हँसता है। और कभी.....सरोवर किनारे गीत गाता रहता है। प्रलाप..... करता हुआ जो जी में आता है, वह बकता रहता है। उसे एक क्षण भी आत्म शांति नहीं, और रोता हुआ गाता है।

न नींद है न चैन है मुझको, नहीं भूख प्यास मुझको।
मुझको चाहे बोलो या ना बोलो, अपना बना लूंगा तुझको।।
ये दुनियां ये महफिल...मेरे काम की नहीं..........
जंगलों में आकर भी.....मुझे ठिकाना ना मिला.....
गम को भूलाने का कोई....बहाना ना मिला.........
क्या समझूं इस संसार को....इक जाती बाजी हार के....
मैं ढूंढू बिछड़ी हुई प्रियतमा को.....हाय मेरी प्रिया...
तुझ बिन मुझ नैन बहे..........दिन रैन.....

(सागरचन्द्र – जंगल में फिरते हुए हिरण आदि जानवरों को देखकर, हे हिरण.....हे....कमल....हे....मयूर.....अशोक.....हे शशांक, सुनों मेरी बात...यदि तुमने मेरी प्रिया के...नेत्र....मुख.....कर.....पदांगुली और कपोलादि प्रशस्त अंगों की....शोभा को लेकर.....जंगल के

विषम प्रदेशों में कहीं जा रहे हो तो भी अब मुझे लौटा दो मेरी, प्रियतमा के अंगों को...अन्यथा तुम सब स्मरण रखना। तुम सभी को मार डालूंगा....वार–२ गिर जाता है। वन वृक्षों के शीतल पवन से होश में आता है। सागरचन्द्र को अपनी प्रियतमा के पीछे पागल व उन्मत बना हुआ देखकर हैडंब नाम का निशाचर कौतूलह पूर्वक) हैडंब – (उसे ललकारता है) अरे ओ पुरुष ! इन विचारे पशुओं को कुपित होकर क्यों परेशान करता है ? ये तो निरापराधी जीव है। इनके पास तेरी प्रियतमा नहीं है। इनसे क्या पूछता है। मेरे से पूछ, जो पूछना हों वह, क्योंकि तेरी प्रिया 'मृगांकलेखा' को...मैंने भक्षण किया है। अब जो तुझे करना हो वह कर ले....आ जा मेरे सामने अपनी प्रिया को लेने।

सागरचन्द्र – (क्रोध के साथ) अरे दुष्ट....नराधम...ठहर, (दांत कस कसाकर) अब तूं......कहाँ जायेगा ? (और उसे मारने दौड़ता है)

हैडंब – राक्षस अपना शरीर बढ़ाकर, हाँ क्या, आ जा, आ जा, आज तो मैं तेरा भी भक्षण करुंगा। (सागरचन्द्र एक वृक्ष को उखाड़ कर मारने दौड़ता है। राक्षस अपना बड़ा ही विकराल रुप धारण करता है। सागरचन्द्र झिझककर मन में महामंत्र का स्मरण करता है। आखिर राक्षस हार जाता है। और भागकर चला जाता है।)

सागरचन्द्र – (स्वगत) हाय ! अब मैं प्रिया को पहाड़ की गुफा, नदियों की....खोह, और कंदराओं में ढूंढते, ढूंढते हार गया। अब वह मुझे नहीं मिलेगी। क्या करुं, प्रिये....अब मैं कहाँ पता लगाऊँ? मृगांक, मैंने तुझे बहुत दुःख दिया। बिना कसूर २१ वर्ष पर्यंत तेरे से विमुख रहा। अब मैं तुझे चाहने लगा तो तूं मुझसे दूर हो गई।

हाय....प्रिये तूं ने यह क्या किया। मैंने ही कुछ भवांतर में ऐसा पाप किया है। उसी की सजा मैं भुगत रहा हूँ। प्रिय इसमें तेरा कोई कसूर नहीं है। हे वन देवता......बताओ मेरी प्रिया किस दिशा में है। आप भी ऐसे निष्ठुर हो गये। वनदेवी रक्षा करो–रक्षा करो मेरी प्रियतमा की......हाय प्रिया....हाय प्रिय.....बस अब मुझे अपनी प्रियतमा का वियोग मुझ से सहन नहीं होगा। बस प्रिये ! अब तो यही रास्ता है कि, जंगल की लकड़ियाँ चुनकर उसकी चिता बनाकर, इस पहाड़ के उपर चढ़कर...शिखर से कुद कर....बस इस चिता में... जल मरुं। बस यही ठीक है। (लकड़ियाँ चुनकर उसकी एक बहुत ही बड़ी चिता बनाता है। और पहाड़ पर चढ़कर ऊँचे से बोलता है।) हे वन देवताओ.....सुनों मेरी...बात। मैंने इस जन्म में दूषण रहित अपनी....प्रणयिनी प्रियतमा "मृगांकलेखा" को अपार दुःख सागर में डूबाकर....उसे दुःखी किया है। उसका मैंने एक भी कहा नहीं माना ! और नहीं उसका कहीं पता मिला। मैं हजारों दोषों से मलिन हुआ। सागरचन्द्र इस चिता में जलकर मरता हूँ। अगर मेरी प्रियतमा यहाँ, आ जाये तो उसे, आप संदेश देना कि, तेरे वियोग में तेरा पति इस चिता में जलकर मर गया है। और साथ–२ उसे क्षमापन्ना कहना, अपने निष्ठुर पति को क्षमा कर दे। (जैसे ही कूदने की कोशिश करता है। तब वहाँ आकाश में जाता हुआ सिद्धपुरुष अपना विमान रोककर सागरचन्द्र का हाथ पकड़ता है)
सिद्धपुरुष – अरे ठहर, ठहर, सागरचन्द्र तूं क्या....करता है। आत्मघात मत कर सुन मेरी बात। आत्मघात करने से जीव दुर्गति को प्राप्त करता है। और नये कर्म बंधन होते हैं। भाग्यशाली सुख–दुःख तो.....जीवन में आते ही रहते हैं।

सागरचन्द्र – मुझे मत रोकों। मुझे जीना नहीं है।........मुझे मर जाने दो। मत....रोको....मत।

सिद्धपुत्र – तूं हैं कौन, तेरा परिचय तो दे, मुझे, तूं क्यों मर जाना चाहता है। ऐसी कौन सी आफत आई है ? जो तुझे आत्मघात करने को विवश करती हो। बता तूं मुझे।

सागरचन्द्र – तुम क्या करोगे ? यह सब जानकर। बस तुम अभागने को कुछ मत पूछो भाई। मेरी जीवन कहानी बड़ी ही दुःखदायी है। मैं.....मैं....अपनी प्रिया मृगांकलेखा के बिना....अभी एक....पल......भी जीने के लिए असमर्थ हूँ। उस महासती क़ो मैंने बहुत ही सताया है। उसी की सजा भुगतने के लिए आत्मघात करता हूँ। भाई तूं मुझे क्यों रोकता है ? मेरा एक–२ पल....बीतता जा रहा है। वह....मैं ही जानता हूँ कैसे बीत रहा है।

सिद्धपुत्र – भाग्यशाली तूं मरने का विचार छोड़ दे तुझे तेरी पत्नी "मृगांकलेखा" अवश्य मिलेगी। और इसी जन्म में तूं अपनी प्रियतमा "मृगांकलेखा" सहित सर्व कर्मों का क्षय करके मोक्ष पद को प्राप्त करोगे। अब तुझे तेरा पुत्र सुरेन्द्रदत्त व मृगांकलेखा का मिलाप सिद्धार्थपुर में नगर के बाहर "प्रियमेलक" नाम के उद्यान में ऋषभदेव के मंदिर के बाहर होगा। इसलिए भाई तूं मरने का विचार छोड़कर सिद्धार्थपुर में जा।

सागरचन्द्र – हे सज्जन शिरोमणी ! मैं आपको आकाश मार्ग में उपस्थित देखकर बड़ाही विस्मय को प्राप्त हुआ हूँ। कृपा करके कहिए की आप कौन हैं ? आपकी अमृतमय वाणी को सुनकर मेरे आनंद का पार नहीं है। भागयशाली आपने मेरे उपर महान उपकार किया है। इस उपकार को मैं भवांतर में नही भुलूंगा।

आपने मुझे दुर्गति से बचाया और मुझे भविष्यवाणी सुनाकर मेरे संतृप्त को शांति दी, धन्य है परोपकारी शिरोमणी आपको।

सिद्धपुत्र – भाई मैं सिद्धपुत्र हूँ। श्री नंदीश्वर द्वीप में ऋषभदेव के चैत्यों की यात्रा करने के लिए जाता हूँ। मार्ग में तुझे अग्नि में झंपापात करता देखकर रुक गया। भाई किसी प्राणी को आत्मघात से बचाना मेरा धर्म था, इसलिए तुझे....बचाने का प्रयत्न किया।

सागरचन्द्र – आपका कल्याण हो। आपने मुझे दुर्गति का कारण जो आत्मघात उससे बचाया, आपने जो कहा, वह निःसंदेह सत्य है। परंतु कुछ इस बात में प्रत्यय भी है ?

सिद्धपुत्र – हाँ, हाँ ! इसमें प्रत्यय यही हैं कि, आज ही 'मृगांकलेखा' की....सखी चित्रलेखा भीलों की पल्ली से भागी हुई इसी पर्वत के निकट तुझे मिलेगी। (इतना कहकर, सिद्धपुत्र आकाश मार्ग से उड़ जाता है)

सागरचन्द्र – (स्वगत) मैं धन्य हूँ। जो, इसी भव में सभी कर्मों का क्षय करके मोक्ष में जाऊँगा। मैंने, यह क्या अज्ञानियों के समान आत्मघात करने का विचार किया ? धिक्कार है मुझे....जो मैंने ऐसे बुरे विचार मन में उत्पन्न किये.......मैं बारंबार मेरे निंदनीय कार्य का दुष्कृत देता हूँ। अच्छा अब तो सिद्धार्थपुर का मार्ग ही लेना है। (वह आगे चलता है। चलते–२ उसे किसी स्त्री का दुःख से भरा हुआ रुदन सुनाई देता है। कुछ क्षण रुककर, रोने की आवाज जहां....से आती है। वहां ध्यान लगाकर सुनता है) यह इस जंगल में किसके रुदन की आवाज आ रही है। कोई दुखियारी नारी है। (जिस दिशा से आवाज आती है.....वह उसी दिशा में प्रवेश करता है। कान लगाकर उसके शब्द को सुनता है।

एक स्त्री – एक वृक्ष के नीचे रोती हुई ! हा दैव। वह मेरी प्रिय सखी। मृगांकलेखा, पति वियोगिनी....श्वसुर गृह से निकाली हुई, कहाँ गई होगी.......ओहो उसके गर्भ की रक्षा कैसे हुई होगी.....मेरे बिना उस अकेली के साथ क्या बीतक.....बीता होगा। और हे भगवान! उसका क्या हाल हुआ होगा ? (छाती और सर पिटकर रोती है) हे सखि तूं कहाँ है ? मैं तुझे कहाँ ढूंढू ? ओहो अब तुझे कौन आश्वासन देता होगा ? तूं तो रो रोकर ही.....अधमुई...हो गयी होगी ? हे.... भगवान....सारा दुःख का पात्र मुझ सखी....महासती....मृगांकलेखा को ही बना.....दिया। हो दैव.....अब मैं क्या करुं। मेरी प्रिय सखी....से जुदा करते....तुझे दया क्यों नहीं आई.....जो उस, गर्भवती से अलग करवाते हुए.....वास्तव में दुष्ट दैव....बड़ा ही दुष्ट है।

सागरचन्द्र – (आवाज पहचानकर) हाय, हाय.....यह तो "चित्रलेखा" विलाप कर रही है। (उस दिशा में दौड़कर, इधर उधर देखता है। एक वृक्ष के नीचे....उसे बैठी हुई देखकर) हाय ! क्या, चित्रलेखा?

चित्रलेखा – (सागरचन्द्र को पहचानकर, उठकर) हाँ स्वामिन् ! यह सखि वियोगिनी......हत....भागिनी....आपकी.....किंकरी...चित्रलेखा।

सागरचन्द्र – (चित्रलेखा को छाती से लगाकर, धीरज देता हुआ) तूं.....यहाँ कैसे.....और तेरी सखी....कहाँ है ?

चित्रलेखा – स्वामिन् ! (गद् गद् स्वर से) आपके गये बाद, जो कुछ हमारे साथ बना है ? वह कहा नहीं जाता। कर्मों की विचित्र गति है।

सागरचन्द्र – (स्वगत) हाय !.......बड़ा दुःख है। मेरा हृदय दो टुकड़े क्यों नहिं हो जाता ? (दाँत पीसकर) इनके दुःखों का

कारण मैं ही तो हूँ। (प्रगट) हाँ ! मेरे चले जाने के बाद क्या हुआ? कहो ! अब मैं अपना हृदय पत्थर से भी कठोर बना लेता हूँ। हाँ। अब.....सुना।

चित्रलेखा – जब आप सैन्य के साथ युद्ध में चले गए (आंखों के आंसू पोंछकर) तो मेरी.....प्रिय.....सखी मृगांकलेखा को आपकी माताजी ने गर्भयुक्त देखकर......जो कुछ वाक्य कहे थे......वे अपनी जबान से मैं नहीं कह सकती हूँ। जो अपमान व जो तिरस्कार किया था। वह सब वज्र सा हृदय बनाकर.....सहन......करके अंत में वे.....पिता के घर गई। वहाँ माता–पिता ने उन्हें घर में भी न घुसने दिया.....और छोटा भाई धनंजय ने दया लाकर माता–पिता से बहुत कुछ कहा। आपका नाम लिया कि, उनके आने तक मृगांकलेखा को घर में रखिए। परंतु उन्होंने एक भी नहीं मानी। अपमान के साथ निकलकर, आपका मार्ग पूछते–२ उजाड़....जंगल, पहाड़ों को उलंघते सखी ने मार्ग में बड़ा ही कष्ट पाया, भूख, प्यास आदि...

सागरचन्द्र – (दोनों हाथों से अपनी छाती पछाड़कर) हाय !....इन दुःखों का कारण तो मैं ही हुआ ? ओहो मेरे निमित्त कितना दुःख पाया ?

चित्रलेखा – (हाथ पकड़कर) स्वामिन् ! यह क्या करते हो आप। ऐसा मत करो सुख–दुःख जीवन में आते जाते ही रहते हैं।

सागरचन्द्र – अच्छा ! बताओ फिर आगे क्या हुआ ?

चित्रलेखा – मार्ग में चित्रगुप्त सार्थवाह मिला। उसके साथ साथ, जिधर आप गए थे, उधर का मार्ग लिया। थोड़ी दूर आगे चलकर मैं जंगल में लकड़ियां लेने गई। परंतु रास्ता भूल जाने से मैं आगे निकल गई। वहां......मुझे धन के लोभ से दुष्ट भील पकड़ कर

अपनी पल्ली में ले गये। उस दिन से मैं......सखी से जुदा पड़ गई। इधर आज ही श्री विजयराजा ने भीलों की पल्लियों का नाश कर दिया, मैं वहां से डरकर भाग के यहां आ गई। इतने में अब आप आ मिले। मुझे नहीं मालूम कि, मेरी प्रिय सखी....की हालत अब.. कैसी होगी ? (रोती है)

सागरचन्द्र – बस, बस धैर्य धर। अब तूं रो मत, सुन मेरी बात, जब मैं....सैन्य से लौट कर घर आया, तो वहां तुमको न पाकर, माताजी से पूछा। माता के मुंह से घर से निकाल देने संबंधी सारी बातें सुनते ही, तुमको मैं ढूंढने निकल पड़ा....मैंने.....अपने मन में धार लिंया कि, जो मुझे मृगांकलेखा न मिलेगी तो......मैं....घर में प्रवेश नहीं करुंगा। ढूंढता, ढूंढता.....इस पर्वत पर आकर मैंने विचार किया कि, अब.....मुझे.....मेरी प्रियतमा "मृगांकलेखा" नहीं मिलेगी। तब मैंने.....लकड़ियों की चिता......बनाकर पहाड़ पर चढ़कर, गिरकर मर जाना ही ठीक समझा। मैं गिरने की तैयारी ही करता था कि, इतने में नंदिश्वर तीर्थ की यात्र को जाते हुए सिद्धपुत्र ने मुझे रोक....दिया। और कहा कि तूं आत्मघात मत कर। तूं मृगांकलेखा प्रिया के साथ.....इसी भव में मुक्तिपद को पायेगा। वह तेरी....प्रिया मृगांकलेखा व पुत्र सुरेन्द्रदत्त.....तुझे.....सिद्धार्थ नगर के "प्रिय मेलक" नामके उद्यान में ऋषभदेव मंदिर के बाहर तुझे मिलेंगे। और चित्रलेखा तो तुझे आज ही मिलेगी। वह सिद्धपुत्र का कहा हुआ वचन सत्य हुआ। चलो उठो अब उदास मत हो। अब सीधे सिद्धार्थपुर नगर को चलें। वहीं अपना सभी का प्रिय मिलन होगा। अब अपने दुःख के दिन चले गये समझो ?

अंक पांचवा

दृश्य पहला

(स्थान – सिद्धार्थपुर नगर में सुरेन्द्रदत्त के रहने का मकान, प्रियमेलक उद्यान और ऋषभदेव भगवान का मंदिर)

सुरेन्द्रदत्त – मित्र गुणचन्द्र ! मेरा विचार है कि, नगर के बाहर प्रिय मेलक उद्यान में जो ऋषभदेव भगवान का मंदिर है। उसमें आठ दिन का महोत्सव शरु करके, इस प्राप्त की हुई लक्ष्मी का सद्उपयोग करुं। पुण्य से मिली हुई लक्ष्मी जिनेन्द्र भक्ति महोत्सव में खर्च करनी चाहिए।

गुणचन्द्र – आपने बहुत ही उत्तम विचार किया है। इस कार्य में विलंब न कीजिए। मेरी तो मनशा है कि, कल से ही महोत्सव शुरु कर दीजिए।

सुरेन्द्रदत्त – अच्छा तो तुमको जितना द्रव्य चाहिए। उतना लो, और तुम स्वयं ही ये सब कार्य को करो। सबसे पहले राजा की आज्ञा लेकर नगर में यह ढिंढोरा पिटवा दो कि, कोई भी जीव हत्या न करने पावे। पीछे दूसरा काम करना।

गुणचन्द्र – बहुत अच्छा ! आपकी आज्ञा ! (वह जाता है। नगर में महोत्सव संबंधी जोरदार, शानदार धुम–धाम होता है)

एक नागरिक – (दुसरे से) भाई आज क्या है। नगर में बड़ा महोत्सव हो रहा है ?

दूसरा – तुमको मालूम नहीं ? अरे भाई ! सुरेन्द्रदत्त नाम का एक बड़ा धार्मिक और धनाढ्य सेठ आया है। वह अष्टान्हिका महोत्सव करवा रहा है। कल ही तो शाम को अमारी पड़ह बजाया है कि,

नगर में कोई भी जीव हत्या न होने पावे, यानि किसी जीव की हिंसा नहीं होनी चाहिए। पापारंभ भी कोई नहीं आचरे।

पहला नागरिक – तब तो बहुत ही खर्च होगा ?

दूसरा – इसमें क्या पूछना ?

पहला नागरिक – आप कहाँ जाते हो ?

दूसरा – मैं वहीं, जहां प्रियमेलक उद्यान में महोत्सव हो रहा है। चलो, तुम भी, देखो (नगर के सब लोग जाते हैं)

पहला नागरिक – हाँ मैं भी आया। घर से बाल बच्चों को भी साथ ले आऊँ। तुम चलों मैं पूजन के प्रारंभ होने तक आ जाऊँगा। (नगर के लोगों को जाते देखकर)

मृगांकलेखा – (कनकबाहु से) यदि, आपकी आज्ञा हो तो, मैं भी श्री ऋषभदेव भगवान के मंदिर में दर्शन कर आऊँ ? वहाँ महोत्सव हो रहा है।

कनकबाहु – खुशी से जाओ बेटी। इसमें क्या पूछना। चलो मैं भी राजाजी से मिलकर अभी ही आ रहा हूँ। (भगवान के आगे चढ़ाने के लिए सुवर्ण मुद्रा और श्री फल देकर आदमी को साथ भेजता है)

मृगांकलेखा – (ऋषभदेव भगवान के मंदिर में प्रवेश करके, प्रभु के सन्मुख खड़ी रहकर प्रार्थना करती है) जय हो देवाधिदेव, वीतराग प्रभु की जय हो। त्रिभुवननाथ की जय हो, जय हो......

"सुखं करण स्वामी जगत नामि, आदि करता दुःख हरं,"
"सुर इंद चंद फनिंद वन्दत, सकल अध हर जिनवरं।।"
"प्रभु ज्ञान सागर गुण हि आगर, आदिनाथ जपो नित परमेश्वरं।।"
"सब भविक जन मिल करहु, पूजा जपो नित परमेश्वरं।।"

(भगवान की स्तुति करके, चैत्यवंदन विधी आदि करके, गाती है)

तर्ज - चल भाग चले..........(कलयुग के रामायण)

कर जोड़ खड़े, हम तेरे द्वार,

दर्शन दे दो, अवतो प्रभुवर, विनंती बारंबार।।

अष्ट कर्म का फंदा कब तक, हमको कसता जायेगा....(ये)...

पापी मनवा इन भंवरों में, कैसे रास्ता पायेगा........(ये).......

निर्बल को बल देना स्वामी,

कहीं न जाए हार...रे...कर जोड़......१

धरती और अम्बर नहीं, मिलते, दूर से बहलाय........रे.......

मृग-तृष्णा ऐसी लेकर हम, कब तक दौड़े जाय.........रे......

करुणा सागर, करुणा करदो,

तेरा ही आधार....रे....कर जोड़........२

काया और माया के भ्रम में, भ्रमित हुए हैं आज........रे......

मांग रहे तुमसे ज्ञानेश्वर, सच्चे सुख का राज........रे.........

खो न जाएं इन राहों में,

दया करो इकबार...रे...कर जोड़.....३

हम मानव हैं मानवता को, भूल कभी ना पाए..........रे.........

धर्म की राहों पर चलकर ही, आगे बढ़ते जाए.........रे........

वर ऐसा ही दो वरदायी,

हमारी यह ही पुकार...रे...कर जोड़......४

(मृगांकलेखा दर्शन करके बाहर आती है। सामने खड़े सुरेन्द्रदत्त को देखकर, स्वगत) हैं, अरे मन ! क्यों ऐसा होता है। ऐसे संकल्प होने का क्या कारण, सचमुच क्या ये मेरा पुत्र तो नहीं है ? इसको देखकर मेरा तन मन विकसित हो रहा है। अनिमेष पलकों से देखने पर भी तृप्ति नहीं होती है। मन चाहता है, इसे भेंट लूं।

ओहो माता की ममता व वात्सल्य.....कैसा होता है। ये तो वही मेरा पुत्र.....है....जिसे उस देवालय में छोड़कर स्नान करने गई थी, मैं वापिस आई तब तक मेरे पुत्र......को कोई उठा ले गया था। (बारंबार एक टक से सुरेन्द्रदत्त को देखती है। जैसे-२ देखती है वैसे-२ उसका मातृ मन बोल उठता है। पगली शंका मत कर, ये तेरा ही पुत्र है। इसलिए तो तेरे रोम रोम प्रफुल्लित हो रहे हैं। इतने में उसके स्तनों से दूध की धारा बह निकलती है।)

सुरेन्द्रदत्त – (स्वगत) हो न हो ये मेरी माता ही है। इसको देखकर एकदम मेरा मन उछलकर भेटने को चाहता है। बस इसमें कुछ संदेह नही.....है ये ही.....मेरी.....जननी......है...जंननी। निश्चय यही.....मेरी.....माता ही है......अन्य कोई नहीं है। शासन देवी के कहे कथनानुसार इसके स्तनों से दूध की धारा बह रही है। इसलिए ये मेरी.....माँ ही है। (भेटनें के लिए कदम बढ़ाता है...फिर झिझक जाता है)

सिद्धपुत्र – (नंदिश्वर द्वीप की यात्रा से लौटा हुआ। भगवान के दर्शन करके बाहर विचार में खड़े सुरेन्द्रदत्त को देखकर) वत्स ! तूं क्या....विचारता है। क्यों झिझकता है ? तुझे जन्म....देने वाली यही तेरी माता.....है। वत्स यही माता है "मृगांकलेखा" श्री मरुदेवी नंदन के चरणकमल वंदन का ही यह पुण्य प्रताप है। जो तेरी माता स्वयं ही यहाँ आ मिली। जा....अपनी माता के चरणों....में प्रणाम कर। (मृगांकलेखा से) भद्रे ! तूं क्या विचारती है ? यह वही तेरा.....पुत्र....है। पुत्र ! जिसे तूं.......उस यक्ष के मंदिर में रखकर स्नान करने गई थी। तेरे पुण्य प्रताप से व सतीत्व के प्रभाव से तुझे.....पुत्र भी स्वयं ही यहाँ....मिलने आ गया।

सुरेन्द्रदत्त – (झपटकर, माता....के चरणों में गिरता हैं
मृगांकलेखा – (उठाकर हृदय से लगाकर) वत्स ! (आनंद के मारे आगे कुछ न बोल सकी, दोनों की आंखों से आंसुओं की धारा बह निकली)
नागरिकजन – (माता–पुत्र के प्रेम को देखकर, स्वगत) वाह रे प्रेम.....धन्य है। पुत्र होवे तो ऐसा ही हो। जिसने अपने नेत्र के जल से माता के.....चरणों......की विचित्र......प्रकार से पूजा की, और धन्य माता.....जिसने ऐसे पुत्र....रत्न को जन्म दिया। माता.....कावात्सल्य भी.....असीम.....था।
मृगांकलेखा – (उद्यान के एक ओर वृक्ष के नीचे बैठकर पुत्र के सिर पर हाथ फरती हुई) वत्स ! तूं कहाँ रहा, कैसे रहा ? वत्स तेरे उपर क्या क्या बिती ? इस नगर में वत्स तूं कहाँ से आया.. ..तेरी सब बातें....सुनने को मेरा....मन बड़ा ही उत्सुक हुआ है।
सुरेन्द्रदत्त – माँ, मैं बड़े ही आनंद में रहा। दुःख क्या। और कैसा होता है। यह मुझे उस दिन....मालूम हुआ कि, जिस दिन वैश्रमण सेठ ने मुझ से कहा कि, मैं.....तेरा....पिता नहीं हूँ। तेरे.....माता–पिता तो न.......जाने कौन और कहाँ......पर है। मैं....तो तुझे.....तत्काल जन्में.....को एक कुत्ते....के मुंह से छुड़ाकर लाया था। माँ...बस उसी समय.....मुझे......दुःख.....का अनुभव हुआ। विष मिश्रित लड्डू की बात सुनाकर। माँ, मैंने अट्ठम तप करके चक्रेश्वरी माता की अराधना की। देवी ने प्रसन्न होकर, कहा कि, तेरी माता सिद्धार्थपुर के बाहर, एक महिने के बाद मिलेगी। सो वह दिन आज का ही है। माँ, देवी के कथानुसार पिताजी का भी आज ही मिलाप होना चाहिए। सामने खड़े सिद्धपुरुष से कहो, परोपकार परायण मेरे

पिताजी कहाँ हैं ?

सिद्धपुत्र – (पूर्व दिशा की तरफ हाथ करके) देख वह देख चित्रलेखा के साथ इधर ही आ रहे हैं।

सुरेन्द्रदत्त – (एकदम उठकर उधर देखता है) हाँ मालूम तो होता है। उनके पैरों की धूल उड़कर आकाश में चढ़ रही है। (मृगांकलेखा से) माँ ! उठो चलें, जल्दी चलें, आगे चल के मिलें।

(सुरेन्द्रदत्त, व मृगांकलेखा आनंद के मारे जल्दी–२ चलते हैं। नगर के लोग भी उनके पीछे–२ जाते हैं। आज उनके हर्ष की सीमा नहीं है)

सिद्धपुत्र – आगे जाकर, भद्रे ! तूं ने मुझे पहचाना ?

सागरचन्द्र – हाथ जोड़कर, आहा ! आपकों न पहचानूं ! यह कभी हो सकता है ? आप ही ने तो मुझे......अग्नि में पड़ने से बचाया था। मैं आपके....उपकार.....का बदला देने को सर्वथा असमर्थ हूँ। मेरे परोपकारी।

सिद्धपुत्र – भद्र तेरी प्रिया "मृगांकलेखा" अपने पुत्र सुरेन्द्रदत्त सहित तेरे.....सामने आ रही है।

सागरचन्द्र – (देखता है। नजदीक में आते ही आनंद के मारे सबकी आंखों में....अश्रु धारा बहती है)

नागरिक – (परस्पर) ओ ! ओ ! ओ आ रहा है....है सुरेन्द्रदत्त का पिता, सागरचन्द्र।

सुरेन्द्रदत्त – (मृगांकलेखा से, सागरचन्द्र की तरफ हाथ करके) माँ.........।

मृगांकलेखा – हाँ ! हाँ ! वत्स, यही........

(सुरेन्द्रदत्त दौड़कर पिता के चरणों में गिरता है)

सागरचन्द्र – (आनंद के मारे कुछ न बोल पाया। दोनों हाथों से उठाकर) वत्स !
मृगांकलेखा – (पैरों में पड़कर, चरणों में स्पर्श करती हुई, स्वगत) जीवितेश.......आज...मेरा....अहो भाग्य.....जो इन....चरणों की रज मेरे मस्तक पर लगी। (सागरचन्द्र – उठाकर भेटता है।)
चित्रलेखा – (मृगांकलेखा को गले लगाकर) सखि ! (आनंद के मारे कुछ न बोल सकी, परस्पर में मिलने का आनंद को देखकर, नागरिक लोगों का हृदय भी भर आया)
एक नागरिक – (साथियों से) मित्र ! देखा कैसा अविचल प्रेम है। वाह रे प्रेम। वाह, धन्य हैं। माता–पिता। पुत्र हो तो ऐसे ही हो। देखो मित्र ! अत्यंत आनंद के कारण ही चारों में से किसी का भी बोल नहीं निकलता है। कैसा गद्–गद् हृदय हो रहा है।
सिद्धपुत्र – (सागरचन्द्र से) भद्र ! ये सब धर्म का ही प्रताप है। बस अब मैं जाता हूँ। (वह तुरंत ही आकाश मार्ग से उड़ जाता है)
सागरचन्द्र – वत्स ! उठो चलो, उस वृक्ष के नीचे बैठें। (धीरे–२ सभी वहाँ जिनालय के समीप एक अशोक वृक्ष के नीचे बैठते हैं)
मृगांकलेखा – (चित्रलेखा से) सखी ! ले सुना। तेरे साथ क्या क्या बीतक बना।
चित्रलेखा – सखी ! जब मैं आपसे जुदा पड़ गई। तो मुझे भील लोग पकड़कर, अपनी पल्ली में ले गये। मुझे भय था कि शील की रक्षा के लिए महती आपतियों का सामना करना पड़ेगा। परंतु वे तो धन के लोभ में ले गये थे। जब मेरे पास उन्होंने कुछ नहीं देखा तो चुप कर गए। मैं वहाँ से किधर जाती। इसलिए वहां ही दिन काटती रही। एक दिन उन भीलों की पल्लियों का राजा ने

नाश किया। मैं डरकर वहां से भाग गई। और एक वृक्ष के नीचे बैठकर रोने लगी। इतनें में "आर्य" आ मिले। सखी ! सुनों आर्य ने, सैन्य से घर जाकर तुम्हें न पाया तो, मातांजी से सब हाल जाना। और घोर प्रतिज्ञा करके निकल पड़े। जब तक "तुम्हारा नाम लेकर" उसकों वापिस न पाऊँगा। तब तक घर में पांव नहीं रखूंगा। बस तुम्हारी खोज में बड़े–२ पहाड़....जंगल.....नदियों को उलंघते हुए, उसी पहाड़ के नीचे.....चिता जलाकर.....उसमें गिरकर मर जाने को तैयार हुए ही थे....कि इतने में सिद्धपुत्र ने रोककर कहा कि, तेरी प्रिया सहित, सिद्धार्थपुर के नगर के बाहर प्रियमेलक उद्यान के बाहर तुझे मिलेगी। और तुम मृगांकलेखा सहित इसी भव में सभी कर्मक्षय करके...मोक्ष पद को प्राप्त करोगे। चित्रलेखा तुझे आज ही मिलेगी। बस उसी दिन आप "आर्य" मुझे मिले। यह सब बातें मुझे "आर्य" ने ही सुनाई थी। वैसी मैंने आपके आगे कही।

मृगांकलेखा – (सागरचन्द्र के चरणों में गिरकर) स्वामीनाथ यह क्या....मुझ भाग्यहीन के लिये....क्या आपको.....ऐसा करना योग्य था? (स्वगत) हे सिद्धपुत्र ! हे निष्कारक वत्सल ! हे परमबंधु ! आपकी कीर्ति युगांत......तक इस धरातल में अमर रहे। आपने "आर्य" सागरचन्द्र की रक्षा कि है। सागरदत्त सेठ के अखिल कुल की रक्षा की। आपने "आर्य" के वंश का उद्धार किया है। आपके इस उपकार से क्या कभी भी हम, उऋण हो सकते हैं ? नहीं कदापि नहीं।......आपका कल्याण हो।

सागरचन्द्र – (मृगांकलेखा के सन्मुख देखकर) प्रिये मेरे कारण तूं ने जो दुःख सहा है। उसका *हजारवां हिस्सा भी* मैंने नहीं सहा।

परंतु आज पुत्र सहित तुझे देखा यही मेरे....महान पुण्य का ही उदय है। बस ! आज सब ही दुःख भूला दो। बुरे दिन निकल गये। आज चारों को आनंद का वर्णन सर्वज्ञ ही करने को समर्थ है। अन्य कोई नहीं।

दृश्य - दूसरा

(स्थान – सिद्धार्थपुर, राजा, कनकबाहु का महल, राजमार्ग विगैरह)

कनकबाहु – महाराज की जय हो ! जय हो ! जय....

राजा – (कनकबाहु से) आओ, कहो क्या समाचार है ?

कनकबाहु – महाराज ! वह सती मृगांकलेखा.....जो मेरे यहां ठहरी थी। उसके पति सागरचन्द्र व पुत्र सुरेन्द्रदत्त का मिलाप आज प्रियमेलक उद्यान में हुआ है।

राजा – सागरचन्द्र आ गया। अच्छा। अच्छा। बहुत अच्छा हुआ। कहो वह कहाँ ठहरा है ?

कनकबाहु – महाराज ! अभी तो वे सब प्रियमेलक उद्यान में ठहरे हैं।

राजा – ऐसा ! तो शीघ्र ही प्रधानजी से कहो कि, सागरचन्द्र का नगर में खूब महोत्सव के साथ प्रवेश कराना है। पूरे नगर को शणगार दो। (प्रधान प्रवेश करता है)

कनकबाहु – विभो ! प्रधानजी तो यहां स्वयं ही आ गए हैं।

राज – बहुत अच्छा हुआ। प्रधानजी सागरचन्द्र का नगर में महोत्सव पूर्वक प्रवेश कराना है। इसलिए डंके, निशान, हाथी, घोड़ा आदि चतुरंगी सेना को सजाकर तैयार करो। मैं भी साथ–२ चलता हूँ।

प्रधान – बहुत अच्छा महाराज ! (प्रधान सब सैन्य सजाकर राज दरबार के बाहर आता है। वहां से राज सैन्य के साथ प्रियमेलक उद्यान में प्रवेश करता है। सागरचन्द्र वगैरह सब लोग राजा साहेब जी को देखते हैं)

कनकबाहु – (सागरचन्द्र के पास जाकर) "आर्य" राजा कनक ध्वज, आपके सामने मिलने आए हैं। देखिए ! वे आपकों बड़े ही महोत्सव पूर्वक, नगर प्रवेश कराना चाहते हैं।

सागरचन्द्र – मेरा, अहो भाग्य। (पुत्र सहित सामने जाकर राजाजी को झुककर प्रणाम करते हैं। राजाजी बड़े आदर पूर्वक मिलते हैं)

राजा – यशस्विन् ! मैं आपके प्रखर, पुण्य प्रताप को देखकर चकित हूँ। आपका पुण्य बड़ा ही प्रबल है। धन्य हैं। इस महासती, विमलशीला के महात्म्य को, और धन्य हैं। इस सुरेन्द्रदत्त को। आप पुण्यशालियों के दर्शन से मैं अपने आप को आज भाग्यशाली मानता हूँ। अब आपसे मेरा एक निवेदन है।

सागरचन्द्र – (राजा के हाथों को दोनों हाथों से पकड़कर) राजाजी आप मुझ पर इतना भार न चढ़ाइए। आप आज्ञा फरमाइए। ये आपका सेवक, "सागरचन्द्र" व "सुरेन्द्रदत्त" हर वक्त सब प्रकार से तैयार है।

राजा – आप नगर में पधारिए। और मेरे राजमहल को, आपके.. चरणकमल की रज से पावन कीजिए। (सागरचन्द्र राजाजी की विनय नम्रता को देखकर चकित होता है।

सागरचन्द्र – आपका मुझ पर बड़ा अनुग्रह है।

राजा – अच्छा ! तो आप इस पट्टहस्ती पर बैठिए।

सागरचन्द्र – राजाजी! आप भी साथ में........

राजा – हाँ, हाँ ! मैं, आपके साथ ही बैठता हूँ। सुरेन्द्रदत्त चलो, तुम भी पिताजी के पास बैठो। (तीनों ही हाथी पर बैठते हैं। मृगांकलेखा अपनी सखी सहित, मियान में बैठती है और बहुत ही आडंबर पूर्वक उनका नगर प्रवेश होता है। नगर के लोग जगह–२ पर पुष्पों से बघाते हैं। राजाजी सपरिवार को अपने महल में ले जाते हैं। वहाँ उन्हें रहते–२ एक मास हो गया।

सागरचन्द्र – राजन् ! मुझे यहां एक मास हो चुका है। कृपया अब आप मुझे आज्ञा दीजिए। तो मैं, अपने माता – पिता से जो मेरे विरह से दुःखी हो रहे हैं। जाकर उन्हें भी मिलूं। क्योंकि मेरा भी चित अब उनसे मिलने को अधीर हो रहा है।

राजा – आपके यहां रहने से, जो कुछ मुझे आनंद हो रहा है। वह मैं ही जानता हूँ। मैं आपसे विशेष क्या कहूँ। परंतु मुझे भूला न जाना....। आपसे अलग होने का....मन तो नहीं....करता है। परंतु माता–पिता की तरफ ख्याल करके मैं, आपको कुछ कह नहीं सकता। अच्छा आपकी इच्छा, परंतु कुछ सैन्य साथ में लेते जाइए। (सागरचन्द्र राजा की दी हुई सेना, हाथी, घोड़ा वगैरह, चतुरंगी सेना सहित वहां से प्रयाण कर, अपने....उज्जैन नगर के बाहर....पड़ाव डालता है।)

दृश्य तीसरा

(स्थान – उज्जैन नगरी, सागरचन्द्र का भवन)

जनार्दन – (सागरदत्त से) विभो ! प्रणाम करता हूँ।

सागरदत्त – जनार्दन ! आज क्या है। तुम बड़े खुश नजर आ रहे हो ? क्या सागरचन्द्र का समाचार कुछ मिला है ? बता जल्दी

बता। मेरा मन अधीर होता जा रहा है।

जनार्दन – स्वामिन् ! मैं उनके शुभागमन का ही समाचार लाया हूँ।

सागरदत्त – (एकदम उठकर जनार्दन के कंधे पर हाथ रखकर) क्या, क्या सागरचन्द्र आया है।

जनार्दन – जी हाँ ! सागरचन्द्र साथ में मृगांकलेखा, स्वपुत्र सुरेन्द्रदत्त भी। (पद्मावती प्रवेश करती है)

सागरदत्त – (पद्मावती से) लो सुनो, जनार्दन, सागरचन्द्र के आने का समाचार लाया है।

पद्मावती – (हर्षविभोर होकर) हैं। सच ! क्या मेरा पुत्र सागरचन्द्र आया है ? जनार्दन मैं तुम्हारी जीभ कंचन से मढ़ दूं। तूं ने बहुत ही आनंद, सुखदायी....वचन सुनाये हैं।

जनार्दन – मांजी ! मैं मिलकर ही आया हूँ। उनके साथ तो हाथी, घोड़ा आदि चतुरंगी सेना भी है। बस राज सी ठाठ समझिए।

पद्मावती – देखो, देखो। यह बाजे की आवाज कहाँ से आ रही है ? वो ही तो नहीं है ?

जनार्दन – (अटारी पर चढ़कर) हाँ, हाँ। मांजी वो ही है.....वो ही है। (दौड़कर सामने जाता है। पद्मावती हर्ष के मारे इधर, उधर दौड़ती है। सागरदत्त भी बाहर निकलकर देखने दौड़ता है। सागरचन्द्र दूर से पिताजी को देखकर, हाथी से कूदकर दौड़ता हुआ पिता के चरणों में गिरता है। पिताजी, पिताजी...मृगांकलेखा, पुत्र व सखी सहित घर में प्रवेश करता है)

सागरचन्द्र – (जनार्दन से) माताजी कहाँ हैं ?

चेटी – (हर्ष के मारे चिल्लाकर) मांजी, इधर आइये, इधर मांजी। आर्य तो इधर आ गए हैं।

सागरचन्द्र – (लपककर पैरों में पड़कर) माँ !

पद्मावती – वत्स चिरंजीवो ! (प्रेम से भेंटती है)

सागरदत्त – वत्स ! देख, अपनी माँ के आंखों का हाल, तेरे वियोग से रो.....रोकर कैसी हो गयी है ?

मृगांकलेखा – माँ जी ! आपके चरणों की चाकर मैं पैरों पड़ती हूँ। (अपना मस्तक पैरों में डालती है। पद्मावती उठाकर, छाती से लगाकर, सिर पर हाथ फेरती है)

पद्मावती – मैंने तेरे साथ बहुत बड़ा ही अन्याय किया है। नाहक ही तुझ निर्दोष को मैंने कलंकित कर दुःख सागर में डाली बहू। मैं तेरे सामने अपना मुँह भी दिखाने लायक नहीं हूँ। मेरे अपराध को भूल जा बहू।

मृगांकलेखा – (मुँह के आगे हाथ देकर) मांजी ! अब आप जाने दीजिए। इस बात को। इस बात का स्मरण ही न कीजिए। मुझे तो आपका कोई भी अपराध नजर नहीं आता ? तो मैं भुलूं क्या ? यह मेरे ही कोई पाप कर्म का उदय था। मांजी ! आपका कोई दोष नहीं है। आप तो निमित बने। मैंने भवांतर में ऐसा अघोर पाप कर्म उपार्जन किया होगा...जिसकी सजा मुझे भुगतनी पड़ी है। माँजी आप खेद मत करिए।

पद्मावती – बहू ! तूं जो कह रही है। वह सत्य है। पर आज मेरी आँख खुल गई है। जब मेरा खुद का ही किया हुआ पाप सामने आया तब....मैंने तुझे घर से निकाल दिया है। मैंने तुझे बहुत ही दुःख दिया है।

मृगांकलेखा – आप भुल जाओ उन बातों को.....बेटा ! दादी को प्रणाम करो।

पहले करीब था अब कोई दुरियाँ भी है ?
इन्सान के नसीब में मजबूरियाँ भी है ?
अपनी बदल चुका है, वो राहें तो क्या हुआ ?
किस्मत में रह गई है, जो आहें तो क्या हुआ।
सदमा ये झेलना है, शिकायत किये वगैर।।

(पद्मावती की आँखों में....हर्ष के आंसू उमड़ पड़े.....वो भी अनोखें मातृत्व से भिंगती चली गई। आज उसे भी अहसास हो गया कि, एक माँ के संस्कार कितने काम करते हैं। सुसंस्कारों की सुवास आज उसे.......अपने में कमी दिखाई दे रही थी। उसका ममता भर हाथ, मृगांकलेखा के सिर पर चला गया। वह बोली) बेटी, आज तेरा नाम यथार्थ रुप में सही साबित हो रहा है। (सुरेन्द्रदत्त पितामह के चरणों में प्रणाम करके दादी के पैरों में पड़ता है। पद्मावती उठाकर हृदय से लगाती है। सुरेन्द्रदत्त, सागरदत्त के आगे बैठता है। चित्रलेखा भी पद्मावती को प्रणाम करती है। मृगांकलेखा, अपने साथ जो बनाव बना वह सब सुनाती है। पीछे सागरचन्द्र, सुरेन्द्रदत्त भी अपनी राम कहानी सुनाते हैं। नगर के सभी लोग मिलने आते हैं। और आनंद व्यक्त करते हैं। सेठ करोड़ों रुपये खर्च करके सदुपयोग में लगाते हैं। जिन भक्ति महोत्सव आदि करवाते हैं। लक्ष्मी का सदुपयोग करते हैं।)

दृश्य चौथा

(स्थान – सागरचन्द्र की हवेली, सागरचन्द्र, मृगांकलेखा व सुरेन्द्रदत्त)

सुरेन्द्रदत्त – (मृगांकलेखा से) माँ, माँ ! (सुरेन्द्रदत्त का प्यार आज किनारे तोड़े जा रहा था। वो अचानक माँ..........की गोद में....बैठ गया......और बड़ी भावुकता से कहने लगा।) माँ......अब मैं तुझे छोड़कर कभी और कहीं भी नहीं जाऊँगा। माँ, बड़ी मजबुरी से तूने छोड़ा था। अब मैं, दादाजी, दादीजी व आप दोनों की तन मन से सेवा करुंगा। तुम्हारी नजरों के सामने ही रहूंगा। माँ.....मुझे जब पता चला कि मेरे जन्मदाता विश्रमण सेठ नहीं हैं। तब मैं दुःख के गर्त में गिर गया था। माँ पूर्वभव के पुण्यों से पुनः सभी का मिलाप हो गया। माँ तुम....कितनी महान् हो.....कितनी निस्वार्थ हो....माँ.....दुनियां में सब कुछ मिल सकता है, पर माँ नहीं मिलती माँ। तेरी जैसी माँ मिलना नामुमकिन है।

मृगांकलेखा – (वात्सल्य भरी दृष्टि से एकटक अंपने पुत्र को निहार रही थी।) बेटा ! तेरे बिना मेरा जीवन ही सुना था। बेटा मैंने तेरे वियोग में कैसे....अपने दिन बिताये ये ता, ज्ञानी ही बता सकते हैं। बेटा.....माँ की ममता क्या होती है। वह मैं जानती हूँ। मेरा लाल मेरा बेटा....सुरेन्द्रदत्त ! (कहते, कहते उसका अपार वात्सल्य उमड़ पड़ा.....। सागरचन्द्र आज अपने जीवन को धन्य मानने लगा। दोनों के जीवन में वसंत बहार आ गई। निर्जीव हुए प्रणों में....जैसे.....फिर चेतना का संचार हुआ। और पूर्व की बात सोच उदास होता है। सागरचन्द्र....का टूटा हुआ दिल बहुत उदास था। सूनी हवेली की तरह। एक सुशील संस्कारी पत्नी को

ठुकराने की सजा, उसे मिल चुकी थी। हँसती खेलती गृहस्थी एक दिन उजड़ गयी थी.....पराई हो गई थी। कैसी किस्मत है)

मृगांकलेखा – स्वामीनाथ ! आप कब तक सोचते रहेंगे। जो हुआ उसे दुःस्वप्न समझकर भूल जाओ। एक तूफान आया और चला गया। अब उसे सोचने से क्या फयदा ?

सागरचन्द्र – मृगांक ! तुम कितनी महान् हो। मेरे अक्षम्य अपराधों को तूं भूलने को कह रही हो ? सही मायने में...इतिहास में जो, आर्यनगरी की गौरवगाथा, का वर्णन आता है.....वह सत्य है। उसके दृष्टान्त रुप तुम हो। तुम एक देवी के समान पूजनीय हो।

नारी को रत्नगर्भा कहो....घर का ढक्कन जान।
लज्जा बढ़ावे पति का........उसे देवी सम मान।।

मृगांकलेखा – नाथ ! आप ऐसा मत कहो......पति की शान बढ़ाना वो तो आर्यनारी का धर्म है......पति को सदा परमेश्वर मानकर ही, सती स्त्री को चलना चाहिए......चाहे भला हो या बुरा हो, जैसा भी हो....पति देवता ही होता है।

सागरचन्द्र – मृगांक ! तुम तो मेरे......अक्षम्य अपराधों को भूल सकती हो। पर मैं......इन्हें कैसे भूल सकता हूँ ? मैंने कैसा तेरे साथ अन्याय किया है। एक थोड़ी सी कुशंका ने मुझे कहीं का नहीं रखा। उन सारे पापों का प्रायश्चित लूंगा। तब मुझे मेरी जलती आत्मा को शांति मिलेगी। मृगांक, मैं उस दिन युद्ध में जाते समय कैसा निर्दय हो गया था ? प्रिय और.....तुझे मैं विशेष क्या कहूँ ? कर्म ने कैसे–२ रंग दिखाये ?

जो हमने दास्तां अपनी सुनाई तुम क्यू रोई.......
तबाही तो हमारे दिल पे आयी तुम क्यूं रोई.......
हमारा दर्द गम है ! ये इसे क्यों तुम सहती.......
ये क्यूं आंसू हमारे.....तुम्हारी आंखों से बहते हैं।
गमों की आग हमने....खुद लगाई तुम क्यूं रोई...

विधी के विधान कुछ ऐसे ही होंगे। कर्म उसे कहाँ, कहाँ भटका देता है। स्वामिन् !

(मृगांकलेखा – हतप्रभ होकर अपने देवता को देख रही थी। अक्सर ऐसा ही होता है....जब इन्सान को अपनी मनचाही मुराद मिल जाती है। तो वह हतप्रभ हो जाता है। दिल जैसे उसका अब काबू में नहीं आ रहा था। वह समझ ही नहीं पा रही थी कि, अचानक मिली इस खुशी को अपनी झोली में कैसे भरे। वह विचारों की बहारों में घूमती, मृगांकलेखा को सागरचन्द्र ने चौंका दिया) प्रिय छोड़ दो अब विचारों को....!

टूटे हुए ख्वाबों ने हमको यह सिखाया है।
दिल ने जिसे चाहा था, आंखों ने गंवाया है।
क्या अपनी तमन्ना थी, क्या सामने आया है।

मुझे लग रहा था, जैसे मेरी जिंदगी में आग लग गई। इस दहकती आग में मेरे अरमान भस्म हो गये। सपनों के महल ढ़ह गये। मैं बरबाद हो गई। मेरा चैन, मेरा सुकुन, मुझसे दूर हो गया। चारों तरफ सन्नाटे के सिवाय कुछ नजर नहीं आता था। चारों तरफ पतझड़ ही पतझड़ था। जैसे एक एक पत्ता टूटकर शाखा से जुंदा हो जायेगा। और... हवाऐं उसे पता नहीं कहाँ..कहाँ बिखराते हुए ले जायेगी। मैं, भी तो ऐसी शाखा से टुटी हुई एक पत्ती थी।

जिसपर अपना कोई जोर न रहा। परिस्थितियां की आंधी कहाँ उड़ा कर ले जायेगी.....यह भी नहीं जानती थी।

सागरचन्द्र – प्रिये ! खुशी और गम का भी एक दूसरे से कैसा अनोखा रिश्ता है ? गम में कैसा भी इंसान क्यों न हो, एकदम मरा मरा सा लगेगा। तो खुशी में एक मरता हुआ इंसान भी जीने की उमंग लिए उठ खड़ा होगा।

सुरेन्द्रदत्त – (अपने माता–पिता से) आप अब इन सभी गमों को भूल जाइये। इंसान अपने–२ किये कर्म के अधीन होता है। इसे मिटाने के लिए कोई समर्थ नहीं है।

सागरचन्द्र – सच है पुत्र ! (सभी के चेहरों पर खुशी थी। चमक थी....और....और हर्ष आँसू लहरा रहे थे। तीनों माँ, बेटे और पिता, भूतकाल की बातें परस्पर सुना रहे थे।)

दृश्य पांचवा

(स्थान – नगर के बाहर उद्यान तथा नगर और सागरचन्द्र का घर)

जनार्दन – स्वामिन् ! उद्यान का माली द्वार पर खड़ा है।

सागरचन्द्र – क्यों ? अच्छा उसे अंदर आने दो । (जनार्दन माली को लेकर प्रवेश करता है)

माली – (सिर झुकाकर) महाराज की जय हो !

सागरचन्द्र – कहो, क्या समाचार है ?

माली – महाराज ! उद्यान में "युगंधर" नामा केवली पधारें हैं। शिष्य परिवार सहित।

सागरचन्द्र – अहो भाग्य ! (खुश होकर माली को इस शुभ समाचार, बधाई लाने के उपलक्ष में एक थाल अशर्फियां देकर) भद्र ! आज तूंने यह आनंदमय समाचार सुनाकर मेरा चित खुश

कर दिया है। मैं, अभी सबको साथ लेकर आता हूँ।
माली – (खुश होता हुआ, हाथ जोड़कर) जो आज्ञा महाराज ! (जाता है)
सागरचन्द्र – पिताजी ! आप भी पधारिए।
सागरदत्त – हाँ वत्स ! चलो–चलो। आज अहो भाग्य।
सागरचन्द्र – जनार्दन ! तुम मांजी विगैरह को कहो कि, शीघ्र ही तैयार होकर.....गुरु महाराज के दर्शनार्थ पधारे। मुझे अब देर नहीं है। मैं तैयार हूँ। (जनार्दन जाता है। घर के सभी सदस्य तैयार होकर आते हैं।)
सुरेन्द्रदत्त – पिताजी ! मेरी माँ.....कहती है कि, हमें गुरु महाराज के सामने स्वस्तिक करने के लिए मोती चाहिए।
सागरचन्द्र – (अलमारी खोलकर चांदी के थाल में, मोती निकालकर देता हुआ मृगांकलेखा से) और कुछ......लो बस, चलो।
(सपरिवार आडंबर से उद्यान में जाते हैं। वहाँ राजा आदि प्रजागण भी गुरुवंदनार्थ आते हैं। केवली भगवंतों को वंदनादि नमस्कार करके, यथायोग्य आसन पर बैठते हैं। केवली भगवंत का प्रवचन सभी लोग एकचित से ध्यानपूर्वक सुनते हैं।)
केवली भगवंत –

"निज कर्मवशाज्जीवा, अधनाः सधना जडाशया अजडाः।।"
"सुभाग्य श्च दुर्भगा अपि भवंति, पूज्या अपूज्या श्च।।"
"मिथ्याव्वम विरति रतिः, कषाययोगास्तथा प्रमादश्च।।"
"शुभा शुभैः सदा जीवाः, कर्मभिः सुख दुःखिनाः।।"
"श्राम्यंव्य सारे संसारे, छिधांतां तानि तब्दुधैः।।"

हे महानुभावों ! जगत में जीवमात्र अपने किए कर्म के वश से

धनवान और निर्धन, पंडित और मूर्ख, सुभग और दुर्भग एवं पूज्य और अपूज्य होते हैं। मिथ्यात्व विपरीत श्रद्धान, अविरति, अत्याग, कषया—क्रोध, मान, माया, लोभ, योग—मानसिक, वाचिक और कायिक, व्यापार और प्रमाद ये पांच कर्म बंधन के कारण हैं।

हे महानुभावों ! शुभा शुभ कर्मों के प्रभाव से सुखी और दुःखी हुए ये जीव इस संसार में अर घट, घटी के न्याय से भ्रमण कर रहे हैं। इसलिए बुद्धिमान को चाहिए कि, उनको कर्म बंधन के कारण, मिथ्यात्वादिकों को काट देवें। (अमृत के समान केवली भगवंत की देशना सुनकर सब लोग शांत हो गये।)

मृगांकलेखा – (विनय पूर्वक हाथ जोड़कर) भगवन् ! पूर्व भव में मैंने, ऐसा कौन सा दुष्कृत पाप किया था कि, जिसके कारण मुझे दुःख पर दुःख भुगतने पड़े।

केवली भगवंत – भद्रे ! सुन, अपने पूर्व भव का वृतांत। सिंहपुर नगर में, राजपुत्र का मित्र एक कंदर्प नामा ब्राह्मण था। जो रात दिन प्रायः अनंगदेव राजपुत्र के पास ही रहता था। और इसी कारण वह बड़ा ही अभिमानी हो गया था। उसी नगर में एक तपस्वी तापस रहता था। बड़ी उत्कृष्ट तपस्या करने वाला प्रसिद्ध लोक में सत्यकीर्ति नामा परिव्राजक तापस रहता था। उस तापस सत्यकीर्ति की महिमा और वाह—वाह देखकर.....एक पुरोहित को बड़ी इर्ष्या पैदा हुई। उसकी महिमा को सहन नहीं करते, उस पुरोहित ने, अनंगदेव राजपुत्र द्वारा "कंदर्प" को कहलाया कि, कोई ऐसी तदबीर करो कि, जिससे इस सत्यकीर्ति परिव्राज तपस्वी की, नगर में अप्रभाजना हो। लोक इसकी महिमा और वाह, वाह को करने से पीछे हट जाये। राजपुत्र की इस बात को

सुनकर कंदर्प ने कहा कि बहुत अच्छा। मैं समय देखकर, जरुर ही इसकी भंडी करुँगा। इसकी सारी प्रतिष्ठा को धूल में मिला दूंगा। आप देखते जाइये। कंदर्प कि इस बात को सुनकर पुरोहित बहुत ही खुश हुआ। कंदर्प रात दिन उन तपस्वी महाराज के छिद्र देखने और अपभ्राजन का निमित दूढ़ने लगा। पापी पुरुषों का और काम ही क्या होता है।

महानुभाव ! उसी नगर में "पद्मदेव" सेठ की पुत्री "कमला" "ललितांग" सेठ के पुत्र पर आसक्त हो रही थी। एक दिन वह कमला.....घर में किसी को कहे बिना ही गुप्त रुप से भाग गई। दैवयोग से उसी दिन सत्यकीर्ति....महात्मा भी.....किसी अन्य ग्राम को चले गये। साधु सन्यासियों के लिए किसी की प्रतिबंधकता नहीं। आज यहाँ तो कल और कहीं पर.....वे अपने आप एक स्थान में रहना.....पसंद नहीं करते। नहीं साधु का ये धर्म है। कि, डेरा डालकर एक ही स्थान में पड़ा रहे। जब गृहस्थियों की तरह डेरा डालकर बन बैठा तो, साधु और गृहस्थी में क्या फर्क। जिस डेरे को छोड़कर साधु हुए फिर, उसी डेरे को घेर के बैठ जाय तो ? या वैसा ही डेरा लगाया जाय तो, क्या बना ? यह तो वह हाल हुआ।

"जगत में से भगत निकले, जगत लिया तांणी।"
"तिल कुलथ मेले हुए, घाट हुई न घांणी।।"

अर्थात् – पहले तो संसार की दशा देखकर वैराग्य से जगत का त्याग किया। परंतु फिर धीरे–धीरे, जिस जगत को त्यागा था। उसी को, अंगीकार कर लिया। तो क्या बना कि, जैसे तिल और कुलथ, धान को इक्ठा करके, घांणी में डालकर पीले तो न उससे

तेल ही निकलता है, और नाही घांणी–खाली बनती है। क्योंकि कुलथ का स्वभाव ही ऐसा होता है। वह तेल को चूस लेता है। यही हाल, उनका समझना....चाहिए। जो संसार, त्याग करके, फिर संसारियों की तरह, डेरा डालकर बन बैठते हैं। बस फिर न इधर के रहे और न ही उधर के रहे, वाला हाल हो गया। धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का।

महानुभाव ! साधु क्या और डेरा क्या ? साधु का तो गृहस्थ से उलटा मार्ग होना चाहिए। और गृहस्थ तो जोरु, जर और जमीन वाला हो तो शोभता है। साधु होके, जर, जोरु, जमीन रखे तो वह जगत में प्रतिष्ठा का पात्र नहीं बनेगा। साधु लोग तो परिग्रह को उपाधी ही समझेंगे। और उपाधी के मुल भी तीन ही हैं। जर, जोरु, जमीन, इसलिए शास्त्रकारों ने साधुओं को उग्रविहारी कहा है। यदि साधु एक ही एक स्थान में रहने लगेगा तो, उसको गृहस्थियों से विशेष संचय, परिचय होने के कारण, किसी के साथ राग और किसी के साथ द्वेष होने का संभव है। जब राग द्वेष हुआ तो, क्रोध, मान, माया और लोभ इन तीनों के पीछे तैयार ही खड़े हैं। जहाँ ये चारों प्रवेश कर चुके तो, वहाँ साधुपना तो घड़ीभर भी नहीं टिकेगा। मतलब साधु एक स्थान में डेरा डालकर न रहे। जगत में भी कहावत है –

"बहता पानी निर्मला, बंधा गंदीला होय।"

"साधु तो रमता भला, जो दाग न लागे कोय।"

इस कथनानुसारं वे तपस्वी भी अन्यत्र चले गये थे।

इधर कमला को सारे नगर में ढूंढ़ा। मगर कहीं पर भी पता न मिला तब कंदर्प ने दाव देखकर लोगों से कहने लगा कि भाई, तुम लोग

जिस तपस्वी की वाह, वाह करते थे। यह उसी का काम है। बस, कमला को वो ही भगा ले गया। वह तो बड़ा ही ढ़ोंगी था। और कपटी भी था। तुम लोग उसकी तपस्या पर मुग्ध हो रहे थे। लो अब भक्ति का फल। अरे मैं, अच्छी तरह जानता हूँ कि, वह उसकी रात–दिन. ....अराधना करती थी। आपस में दोनों मिले हुए थे। बस तुम यह बात निश्चय ही समझों कि, वह तपस्वी ही कमला.....को भगा ले गया है। कंदर्प की यह बात परमार्थ से, अज्ञ...भोले लोगों के दिल में सत्य प्रतीत होने लगी। उस निर्दोष महात्मा के प्रति अनेक प्रकार के संकल्प. ....दौड़ने लगे। यहाँ तक कि, कई लोग इस निमित धर्म से परांमुख हो गये। कई दिनों के बाद फिरते फिरते वही तपस्वी सत्यकीर्ति महात्मा उसी ग्राम में आए। कंदर्प सुनकर अपने दिल में सोचने लगा कि, मैंने जो बात उड़ाई है। वो इसके यहां आने से खुल जाएगी। और मैं लोगों में झूठा ठहरुंगा। इसलिए पहले से आगे जाकर इसको नगर में घुसने लायक न रहने दूँ। ऐसा विचार कर कंदर्प अपने साथियों को साथ में लेकर बाहर पहुंचा। और उन तपस्वी, महात्मा को लकड़ी और मुक्कों से.....खूब....मार मारा। उन क्षमा के सागर तपस्वी महाराज ने उनकी उस मार को सहन किया। मन में जरा भी क्रोध न लाये। कंदर्प ने समझा कि अब यह नगर में आने लायक नहीं रहा। ऐसा विचार कर अपने घर चला गया। जिस दिन तपस्वी को मारा था। उसी के सातवें दिन, कंदर्प के जीभ के उपर फोड़ा हुआ। उस फोड़े की असह्य वेदना से आर्तध्यान में मरकर कुत्ती हुई। कुत्ती के भव में भी जीभ पर फोड़ा हुआ। उस फोड़े की असह्य वेदना से वहाँ पर भी अपार दुःख को सहकर मरके वैश्या रुप में पैदा हुई। वहां पर चंदन सेठ के पुत्र के संबंध से वह धर्म परायण हुई। एक दिन सरोवर किनारे विलास करती

हुई, क्रीड़ा करते हुए राज हंस के जोड़े को देखा, देखकर कौतूहल से राजहंस को पकड़ कर कुंकुम से रंग दिया। रंग के करण चकवे की भ्रांति से करुणाजनक विलाप करती, मूर्छा खाती हुइ हंसीनी ने इक्कीस घड़ी पर्यंत हंस के साथ विलास नहीं किया। जब उस हंसीनी को हंस के वियोग से इस प्रकार तड़फती देखा तो, करुणा लाके पानी से हंस के पंख को धोकर साफ निर्मल किया। तब हंसीनी ने हंस को स्वीकार किया।

वैश्या वहां से अपने घर चली गई। कितना ही समय धर्म में व्यतीत कर अंत में....समाधी पूर्वक काल करके पूर्वकृत माया दोष से प्रथम देवलोक में इन्द्र की इन्द्राणी हुई। वहां से काल करके तूं "मृगांकलेखा" बनी और "अनंगदेव" राजपुत्र का जीव, जिसने कंदर्प ब्राह्मण के किये हुए पाप की अनुमोदना की थी। वह बहुत से भव धारण करके, इस भव में ये तेरी सखी ! चित्रलेखा बनी है। तूं ने कंदर्प के भव में तापस के उपर कलंक लगाया था। इसलिए उस कर्म के प्रताप से तुझे इस भव में कलंकित होना पड़ा। और जो तपस्वी को मारा था। उस कर्म के प्रताप से अनेक दुरंत दुःख की परंपरा याने दुःख पर दुःख.....तूं ने सहे, पापकर्म की अनुमोदना के कारण, चित्रलेखा भी तेरे साथ, साथ दुःखिनी हुई। तूं ने वैश्या के भव में जो इक्कीस घड़ी तक हंस, हंसीनी को वियोग कराया था। उस कर्म के प्रभाव से तुझे यहां अपने पति का इक्कीस वर्ष पर्यंत वियोग सहना पड़ा।

"जो जं करइ कम्मं, विविह विवएहिं तस्स कम्मस्स।"

"सो परिणाम वसंणं, लहइ फलं भवसहस्सेसु।।"

अर्थात् – जो जीव जैसा कर्म करता है। वैसा परिणाम वश उस

कर्म का विविध विपाक फल रुप से, हजारों भव में, फल प्राप्त करता है। इसलिए हे महानुभावों ! दुष्कर्म को नाश करने को समर्थ, ऐसा यति धर्म.....या श्रावक धर्म का आराधना करो।

मृगांकलेखा – (अपना पूर्व भव सुनकर) हा, हा, जीव कर्म करते समय कुछ विचार नहीं करता। परंतु जब उसका फल भोगना पड़ता है। तब मालूम पड़ता है। कर्म बांधते वक्त तो जीव हँस, हँस के बांधता है। परंतु जब रो, रोकर भुगतने पड़ते हैं तब याद आता है।

केवली भगवंत – हे महानुभावों ! तीर्थंकर, सर्वज्ञ ने दो प्रकार का धर्म कहा है।

" १ - सर्वथा, सावध का त्याग, साधु धर्म........

"अहिंसासूनृऽतास्तेय ब्रह्मचर्या परिग्रहाः।।..........

" २ - अमुक मर्यादा पुर्वक, साधव का त्याग,

गृहस्थ का धर्म, सो सम्यक्त्व मुल बारा व्रत।....

सागरचन्द्र, मृगांकलेखा – विभो ! हम आपके.....समक्ष सम्यक्त्व मूल बाराव्रत रुप गृहस्थ धर्म ही अंगीकार करते हैं।

केवली महाराज – जैसे तुम्हारी आत्मा को सुख हो......।

(सागरचन्द्र, मृगांकलेखा, गृहस्थ धर्म स्वीकार करते हैं। और लोग भी यथायोग्य व्रत नियम प्रत्यख्यान लेकर अपने–अपने घर जाते हैं। सागरचन्द्र अपनी प्रिया ! मृगांलेखा सहित सर्वज्ञ प्रणीत धर्म को अच्छी तरह पालते हुए। कुछ वर्ष के बाद संसार त्याग कर साधु व्रत...... अंगीकार करके निरतिचार चारित्र पाल के अंत में सर्व कर्म क्षय करके जन्म, जरा–मृत्यु रहित मोक्ष पद को प्राप्त होते हैं।

*** समाप्त ***

जिन भारतीय महिलाओं ने शील रुप रत्न के मुकाबले में, अपने जीवन को अति तुच्छ समझ कर, अग्नि में झोंक दिया। विविध प्रकार की यातनाओं को भी सहन करके, भी इसे (शील को) सुरक्षित रखा। इसकी रक्षा के लिए बड़ी–बड़ी बलवती शक्तियों का भी सामना किया, प्राणांत कष्ट के उपस्थित होने पर भी इसे जांने न दिया। धनवानों, बलवानों और बुद्धिमानों द्वारा प्राप्त होने वाले लोभ, भय और मायाजाल रुप तस्करों से इसे लूटने नहीं दिया। उन्हीं में से "मृगांकलेखा" भी एक है। सीता, सावित्री और दमयंति, अंजना आदि महासतियों की तरह इस सती सुशीला ने भी भारत माता की गोद को नितांत अलंकृत किया है। "मृगांकलेखा" एक जैन धर्मानुयायीनी रमणी थी। इसके निर्मल चरित्र का वर्णन जैन धर्म के "सम्यक्त्व सप्तति" नामा ग्रन्थ की "तत्व कौमुदी" नामा टीका में किया है। मूल ग्रन्थ, प्राकृत भाषा में और बहुत ही प्राचीन है। सम्यक्त्व के अवान्तर ६७ भेदों का इसमें वर्णन है। टीका, संस्कृत भाषा में है। टीका के रचियता....श्री गुणशेखर सूरि के शिष्य मुनि श्री संघ तिलक सूरि आपने अपने लघु शिष्य, श्री देवेन्द्र मुनि की प्रार्थना से विक्रम संवत् १४२२ को "सरसा" नाम के ग्राम में दिवाली के दिन इसकी रचना की समाप्ति की है। ऐसा आपकी लिखी हुई प्रशस्ति के निम्नलिखित श्लोकों से विदित होता है तथा हि –

श्री संघ तिलकाचार्या - स्तत्पदाम्भोजरेणवः।
सम्यक्व्व सप्ततेर्वृतिं - विदधुस्तव्व कौमुदिम्।।
अस्मच्छिष्यवरस्य सोम लितकाचार्यानुजस्याधुना।
श्री देवेन्द्र मुनिश्वरस्य वचसा सम्यक्व्वसत्सप्तते :।

श्रीमद्‌विक्रमवत्सरे, द्विनयना १४२२ म्भोधिक्षपाकृतप्रभे।
श्री सारस्वतपतने विरचिता, दीपोत्सवे वृतिका।

सज्जनो ! प्राणिमात्र की सुधर्म भावना, किस प्रकार दृढ़ होनी चाहिए विविध आपतियों के आने पर भी उसे किस प्रकार निश्चल रहने की आवश्यकता है। इस बात को दर्शाने के लिए महासती मृगांकलेखा का चरित्र बहुत ही उपयोगी होगा। और शिक्षाप्रद भी है।

प्रिय वाचक इस महासती -- मृगांकलेखा का चरित्र समाप्त करते हुए अत्यंत हर्ष का अनुभव करती हूँ। कुछ पुस्तकों से इसमें मैंने संग्रह किया है, और इसे औपन्यासिक ढ़ंग पर लिखकर नाटकीय रुप में परिवर्तन और स्थान--२ पर उपयोगी विदूषक आदि कल्पित पात्रों को नियुक्त करके इसको रोमांचिक बनाया है।

इस महासती "मृगांकलेखा" के चरित्र से आप अपनी शक्ति के अनुसार, जैसे सरोवर में से हंस मोती चुगता है, वैसे ही आप भी जितना बने उतना गुण ग्रहण करेंगे तो बस। विशेष क्या लिखूं। इस चरित्र की भाषा एवं शैली के सन्मुख इसमें रहा हुआ परमार्थ अत्यंत उपयोगी है। मेरे प्रिय पाठकगणों से निवेदन है कि, आप इसे पढ़कर अवश्य ही मनन करके जीवन में आचरण में लाने का प्रयत्न करें। अगर प्रमाद वश लिखने में कहीं भाषा की त्रुटि रही हो तो मिथ्या दुष्कृत देती हूँ। ये मेरा प्रथम पुष्प प्रकट होने जा रहा है। मुझे आशा है, मुझे अवश्य सफलता मिलेगी।

क्योंकि न तो मैं लेखिका हूँ और न ही कवियत्री हूँ, सा. तत्वदर्शिता श्री के बार--२ आग्रह से पुस्तक लिखने की भावना प्रकट हुई, और हाऊसिंग बोर्ड कमला नेहरू नगर पाली के चातुर्मास निमित्ते

लिखना प्रारंभ किया। एक दिन कुछ लिख रही थी, तो रामावाले मोहनजी को आभास हुआ कि साध्वीजी कुछ लिख रहे हैं। उन्होंने पूछ ही लिया, क्या साध्वीजी म.सा. हमारे से छिपाकर पुस्तक लिखना चाहते हैं ? तब मैंने अपनी भावना उनके सामने व्यक्त की, उन्होंने बहुत ही उत्साह बढ़ाया। और हमेशा उत्साहित करते रहे। उगमराजजी सांढ जितेन्द्र मेहता आदि ने बहुत ही प्रोत्साहित किया कि, इस चातुर्मास निमित्ते अवश्य ही पुस्तक छपवायेंगे। पूज्य गुरुदेवों की असीम कृपा से इस पुस्तक को जल्दी ही पूर्ण करने की सफलता मिली और इसमें एकबार में ही दानदाताओं ने उदार दिल से आर्थिक सहयोग दिया जिसे बहुत–२ धन्यवाद है। इस पुस्तक के छपवाने का कार्य अखिल भारतीय सचिव (कांग्रेस ई) चन्द्राराजसा सिंघवी के सुपुत्र संजयराज सिंघवी ने तन, मन, धन का सहयोग देकर अपने जीवन को कृतार्थ बनाया, जिनकी सेवा प्रशंसनीय है।

!! जय महावीर !!

– सा. शीलवती श्री

चिरस्मरणीय चातुर्मास

विशेष हर्ष के साथ विदित करते हुए, परम हर्ष होता है। हमारे श्री संघ की कई वर्षों से यानी ३–४ वर्ष से चातुर्मास कराने की भावना थी। किसी संत सतियांजी को, इस वर्ष हमारा अहो भांग्य है कि, भूतपूर्व नाकोड़ा तीर्थोद्धारक मेवाड़ केसरी हिमाचल सूरिश्वर जी म. सा. एवं वर्तमान में गच्छाधिपती श्री अरिहंतसिद्ध सूरिश्वरजी म.सा. के आज्ञानुवर्तनी शासन प्रभाविक मधुर भाषिनी विदुषी आर्यरत्ना साध्वीजी श्री आनंदश्री जी म.सा. के शिष्या – समीक्षता प्रवचनकारिणी प. पू. साध्वीजी श्री शीलवती श्रीजी म.सा. एवं तत् शिष्या – बालब्रह्मचारिणी मधुर भाषिनी तत्वदर्शिता श्रीजी म.सा. आदि ठा. २ को हमारे संघ की विनती स्वीकार कर हमारा (मूर्ति पूजक) श्री संघ का उत्साह बढ़ाया।

चातुर्मास नगर प्रवेश

शिवगंज से विहार करके प. पू. शीलवती श्री जी म. सा. तत् शिष्या तत्वदर्शीता श्री जी म. सा. पाली हाऊसिंग बोर्ड कमला नेहरु नगर में चातुंर्मास हेतु द्वितीय अषाढ़ सुदी ८ ता० २४-७-६६ के दिन प्रातः श्री संघ ने हर्षोल्लास से अगवानी की बैण्ड की मधुर स्वरों श्राविकाओं के मंगलगीतों के साथ–साथ गहुलियों को वधाते हुए भव्य स्वागत पूर्वक शुभ मुहुर्त में नगर प्रवेश किया। सभी की पुकार थी, नये गुरुजी आये हैं – नयी रोशनी लाये हैं।

उसी दिन पूज्य साध्वी श्री शीलवती श्री जी ने मधुर वाणी से मांगलिक प्रवचन दिया। जिसे सुनकर उपस्थित जन समुदाय मुग्ध हो उठा। प्रवचन समाप्त होने के बाद श्री संघ में भाग्यशालीयों ने

संघ पूजन किया और प्रभावना हुई।

व्याख्यान प्रारंभ

पूज्य श्री ने जिनवाणी का पान सुदर्शना के माध्याम से नमस्कार महामंत्र पर प्रभावशाली प्रवचन किया व तत्वदर्शिता श्री ने मल्यासुंदरी चरित्र पर अद्‌भुत प्रभावशाली प्रवचन प्रारंभ किया, श्रोताओं का दिल जीत लिया। व्याख्यान में रोजाना पूरा हॉल खचाखच भरा रहता था। प्रवचन के दौरान अनेको बार संघ पूजा होती रही, साथ प्रभावना भी हुई।

प्रातः नित्यकार्यक्रम

प्रवेश के दो दिन बाद पूज्य श्री जी ने महा मंगलकारी भक्तामर स्तोत्र प्रातः बोलना संघ में प्रारंभ करवाया, निरंतर ४ महिने चालू रहा। प्रातः ७ बजे भक्तामर स्तोत्र होता था। भक्तामर स्तोत्र की प्रभावना – लक्की ड्रॉ – अलग–२ भाग्यशालियों की ओर से हो रहा था। अखंड जाप विगेरे भी चालू थे।

विविध प्रकार के तप

पूज्य साध्वी श्री जी शीलवती श्री जी की प्रेरणा मिलते ही संघ में नाना प्रकार के तप करवाये गये जो अविस्मरणीय हैं। और शिविर उद्‌घाटन भी समारोह पूर्वक हुआ। जिसका लाभ श्री प्रेमलताबेन सिंघवी परिवार ने लिया। शिविर उद्‌घाटन ता. ४-८-९६ को अरविंदमलसा सिंघवी ने किया। जो प्रति रविवार को शिविर लगता था। और गोचारी पौषध करने में छोटी–२ बालिकाओं ने उत्साह पूर्वक लाभ लिया।

तप की आराधना

दीपक के एकासणें की आराधना करवायी, जिसका लाभ – भगवानचंदजी बाड़मेर वालों ने लिया। आराधक ६५ थे।

खीर के एकासणें की आराधना करवाई गयी, जिसका लाभ – श्री मान् जुगराजजी गुलेच्छा बाड़मेर वालों ने लिया। ८५ आराधक थे।

अट्ठम तप – शंखेश्वर पार्श्वनाथ के व अभिग्रह के अट्ठम में ४० व्यक्तियों ने आराधना की – पारणा का लाभ – श्री मान् शांतिमलजी मेहता ने लिया।

नमस्कार महामन्त्र की आराधना – नवदिन एकासणा की आराधना में ३५ व्यक्तियों ने सामूहिक क्रिया सहित आराधना की, नव दिन एकासणे का लाभ लेने वाले भाग्यशालियों के नाम हैं – उगमराजजी सांढ, मोहनलालजी संकलेचा रामावाला, प्रेमलताबेन सिंघवी, जेठमलजी पुकराजजी नाहर, ओमप्रकाशजी छाजेड़, प्रकाशजी बडेर, धनराजी पोरवाल, शांतिलालजी मेहता, महिला मंडल

पर्वाधिराज पर्युषण की महान आराधना

पु. श्री शीलवती श्री की निश्रा में पर्युषण पर्व में धर्म आराधना एवं तपस्या की झड़ी लग गयी। पौषध–तेला, बेला ५, उपवास, ६ उपवास, ११ उपवास, १५ उपवास, १६ उपवास, सिद्धितप आदि तपस्या में कई भाग्यशालियों ने भाग लिया। सभी तपस्वियों के पारणा का लाभ श्री स्थानकवासी अहिंसा परमोधर्म मंडल ने लिया, जो अविस्मरणीय रहेगा। और सभी तपस्वियों का बहुमान मूर्तिपूजक श्री संघ ने लिया। यहां दोनों सम्प्रदाय ने, भगवान् महावीर स्वामी के

लहराते हुए झंडे के नीचे एकता का अद्भूत परिचय दिया, जो अविस्मरणीय है। और शासन गरिमा में चार चांद लगाये। सभी तपस्वियों को विविध प्रभावना दी गई। पर्युषण दौरान – प्रातः स्नात्र पूजा व रात को परमात्मा भक्ति में भक्तगणों ने ओत–प्रोत गीत प्रस्तुत किये।

शिविर समापन समारोह

चातुर्मास दौरान सा. श्री की निश्रा में छात्र व छात्राओं में धर्म का मर्म भरने हेतु रविवार शिविर का आयोजन कर इन्हें धार्मिक शिक्षण दिया। तथा धार्मिक परिक्षाऐं ली गयी। बच्चों का उत्साह बढ़ाने हेतु पारितोषिक दिये गये, जिसका लाभ श्रीमती प्रेमलता बहन सिंघवी धर्म पत्नी चंद्रराजसा सिंघवी परिवार ने लिया। शिविर समापन समारोह में पद्मावती महापूजन का लाभ पूज्य गुरुदेव हिमाचल सूरिश्वरजी म.सा. के पुण्यस्मृति निमिते श्री मान् उगमराजजी शांतिलालजी सांढ़ ने लिया। कुमारपाल महाराज की आरती का लाभ शांतिलालजी मेहता ने लिया। सिद्धचक्र महापूजन का लाभ मोहनलालजी संखलेचा (रामावाला) परिवारवालों ने लिया, पंचकल्याणक महोत्सव, अश्वसेन महाराजा व बामामाता का थाल पार्श्वकुमार की झांकिया आडंबरपूर्वक निकाली गई। चौदह स्वपन सहित बालिकाओं का सांस्कृतिक प्रोग्राम उत्साह पूर्वक मनाया गया।

!! इति !!

जैन आर्या

विदुर्ष विदु' श्री 7 श्री

जन्मस्थ जन्मस्थ री, संवत् 2010

माता माता

पिता : श्रीमान् चम्पाल... पालरेचा

दीक्षास्थल : जैन बोर्डिंग, सुमेरपुर (राज.)

जीवनस्त्राष्टा : मधुरभाषी, पूज्य गुरुवर्या
आनन्द श्रीजी म.सा.

दीक्षा प्रदाता : प्रसन्नश्रीजी म.सा.

बड़ी दीक्षा : लुणावा (राज.) संवत् 2030

नारी तू नारायणी